प्रकाशक—
'सन्मति' ज्ञान पीठ
आगरा

द्वितीय प्रवेश
१०००
कार्तिक, २४८५ वीर संवत्

मूल्य २)

मुद्रक—
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस
राजामंडी, अहीरपाड़ा
आगरा

उत्सर्ग

मुनि श्री प्रेमचन्द्र जी

मुनि श्री अमोलकचन्द्र जी

मुनि श्री श्रीचन्द्र जी

मुनित्रयी की भक्ति-भावनामय सेवाओं को अर्पण—
करता हूँ श्री हरिश्चन्द्र की जीवन-गाथा के मधुफल !

अमर मुनि

'सन्मति' ज्ञान-पीठ

यह सस्था अभी-अभी यहाँ बडे समारोह से स्थापित हुई है। आशा है, श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज की अमर प्रेरणा का यह सत्फल, निकट भविष्य में ही जैनसमाज की सुन्दर सेवा करता हुआ नजर आयगा।

आगमों का प्रामाणिक सम्पादन तथा प्रकाशन, प्राचीन ऐतिहासिक महापुरुषो के जीवन चरित्र, जैन धर्म के विविध अगो पर अद्यतन शैली मे सुन्दर निवन्ध आदि की योजनाएँ, सस्था के सम्मुख हैं। ज्यो-ज्यों समाज के धनी मानी तथा विद्वानो का सहयोग मिलता जायगा, प्रत्येक काय प्रगति के साथ पूर्ण होता जायगा।

ज्ञान पीठ को सहायता देने के लिए आप नीचे लिखे किसी भी रूप मे सहयोगी बन सकते हैं और जैन समाज का ऋण अदा करने के साथ साथ अपना शुभ नाम भी जैन समाज के चरणो में आदर पूर्वक रख सकते है।

१ — एक मुश्त	५०००) देकर	प्रधान स्तम	बन सकते हैं।
२ — ,,	१०००) ,,	स्तम	,, ,,
३ — ,,	५००) ,,	सरक्षक	,, ,,
४ — ,,	२५०) ,,	सहायक	,, ,,
५ — ,,	१२५) ,,	समर्थक	,, ,,

उपर्युक्त सभी प्रकार के सहयोगी 'ज्ञान-पीठ के सदस्य समझे जायेंगे और उनको सब-के सब प्रकाशन निःशुल्क भेंट में दिये जायँगे।

सोनाराम जैन

प्रधान मन्त्री —

'सन्मति' ज्ञान-पीठ

आगरा।

दो शब्द

कविता जीवन की व्याख्या है आज इस सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं रह गई है। सुन्दर को असुन्दर से पृथक करना सौन्दर्य की झाँकी लेना और उसका रस प्राप्त करना—कविता के लिए 'वाल्टर पेटर' की समीक्षा भी इसी बात की पुष्टि करती है जीवन का कोई तात्विक विरोध नहीं पैदा करती। रही 'सत्' की खोज सो सत् की प्रेरणा मनुष्य मात्र के हृदय की स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य मात्र सदाचार सत्कर्म शुभप्रवृत्ति आदि से तृप्त होता है और उसके विपरीत दुर्गुणों से उसे घृणा होती है। मनुष्य की मानसिक तृषा शान्ति के लिए उसे शुभवृत्तियों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। इस अवस्था में हम कविता को मानव अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब मान कर उसे 'सत्' से पृथक नहीं मान सकते।

और जो 'सत्' है वही 'शिव' और सुन्दर भी है।

प्रस्तुत पुस्तक 'सत्य हरिश्चन्द्र' जहाँ एक ओर कविता की व्याख्या में अपने में पूर्ण रचना है वहाँ दूसरी ओर कर्म की भावना को प्रोत्साहन देकर हमें जीवन संग्राम में आगे बढ़ने की भूमिका तैयार करने में भी

कम महत्व नही रखती । हरिश्चन्द्र का जीवन मानव जीवन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । कवि श्री की बहुमुखी प्रतिभा ने उसे अपनी सहज अनुभूति करुणा, सेवा और चरित्रबल के सहारे और सुन्दर रूप दे दिया है । 'स्वांत सुखाय' की सीमा में, हम इसे बहुजन हिताय', 'बहुजन सुखाय' रचना मानेंगे ।

कवि श्री का कवि हृदय सत्य के महत्व को मानव जीवन में एक पल के लिए भूल नही पाता है । मिट्टी का पुतला मानव किन उपकरणो को लेकर अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है, उसके साथ उसे श्रेष्ठ बना देने का कौन साधन है ? —सभी ओर से उनका हृदय जागरूक है, सचेत है । वह अतीत के उत्कर्ष पर मुग्ध हैं, और वर्तमान की हीनता पर क्षुब्ध । वह जानते हैं सत्य से दूर मानव-श्रेष्ठता का दावा व्यर्थ है, तभी तो कहने को बाध्य होते हैं—

अखिल विश्व में एक सत्य ही जीवन श्रेष्ठ बनता है,
बिना सत्य के जप, तप, योगाचार भ्रष्ट हो जाता है ।

+ + +

यह पृथ्वी, आकाश और यह रवि-शशि, तारा मडल भी,
एक सत्य पर आधारित है, क्षुब्ध महोदधि चचल भी ।
जो नर अपने मुख से वाणी बोल पुन हट जाते है,
नर तन पाकर पशु से भी वे जीवन नीच विताते हैं ।
मर्द कहाँ वे जो निज मुख कहते थे सो करते थे,
अपने प्रण की पूर्ति हेतु जो हसते-हसते मरते थे ?

गाडी के पहिये की मानिंद पुन्य बचन चल भाग हुए,
सुबह कहां हुआ शाम कहां हुआ, टोके तो मालूम हुए।

मानव हृदय की सात्विक प्रवृत्तियाँ विभव-विलास के वातावरण में पनपति नहीं अपनाती त्यागी वे-स्थायी हृदय भी कुछ देर के लिए ही सही विभव विलास की छाया में आत्म-विस्मृत-सा हो जाता है। हरिश्चन्द्र की कमजोरी भी ऐसे अवसर में स्वाभाविक रूप में सामने आती है। रानी शैव्या का सौंदर्य प्रस्तु विभव विलासों का आकर्षण उसे कर्तव्य क्षेत्र से दूर खींचकर राजप्रासाद का बन्दी बना देता है। प्रजा-पालक नरेश अपने को प्रजा के दुःख और कष्टों से अलग कर लेता है—'मोह निद्रा' की सृष्टि होती है विभव-विलास प्रिया-युत कर्तव्य की धारा वहीं रही समाप्त—मगर रानी का हृदय इस ओर प्रवीत नहीं है वह स्नेह प्रेम को समझती है और अपने को समझती है, प्रजा के दुःख-दर्द उसकी आत्मा को कम्पित कर देते हैं—वह सोचने को बाध्य होती है—

'रूप-मुग्ध नर मोह पाश में बँधा प्रेम क्या कर सकता
स्नेह मूर्तियाँ-मोहित करके जीवन-तत्व परख सकता।
मैं कौशल की रानी हूँ, बस नहीं भोग में जुड़ी थी
कर्म योग भी कष्टक शैया पर ही सतत जुड़ी थी।

भारतीय नारी का वह पुण्य हृदय जिसको मुग्ध नहीं बना पाया ? शैव्या अपने विनोद का सुख भुलाकर हरिश्चन्द्र को स्वर्ण-मुग्ध नृप-बालक के भेष में राज प्रसाद से बाहर भेज देती है—प्रजाओं के बीच जन सत्य का रूप देखने और यह देखने कि नैसर्गिक सुन्दरता राजप्रसाद की

सुन्दरता मे घट कर नही है। राजप्रासाद की सीमित सुन्दरता किसी एक के लिए है तो प्रकृति की असीम सौन्दर्य-राशि सर्व जन सुलभ। प्रकृति की गोद में बैठकर मानव अपने जीवन का सामजस्य, कर्म की प्रेरणा, सहज भाव से प्राप्त कर सकता है। कवि श्री की भावना यहाँ सुप्त हृदय को उत्तेजना देती है —

> "प्राप्त कर सद्गुण न बन पागल प्रतिष्ठा के लिए,
> जब खिलेगा फूल खुद अलि वृन्द आ मडरायगा।
> फूल फल से युक्त होकर वृक्ष झुक जाते स्वय,
> पाके गौरव मान कब तू नम्रता दिखलायगा!
> रात-दिन अविराम गति मे देख झरना बह रहा,
> क्या तू अपने लक्ष्य के प्रति यों उछलता जायगा!
> दूसरों के हित 'अमर' जल-सग्रही सरवर बना,
> दीन के हित धन लुटाना क्या कभी मन भायगा!"

हम यहाँ भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि कवि के रूप में कविश्री को देखने को बाध्य होते हैं Domestic Sentiment (गार्हस्थभाव) में ही वह त्याग की अर्चना हमें सिखाते हैं यह उनकी विशेषता है। अपने त्याग पूर्ण जीवन में यह बात नही कि उन्होने सांसारिक व्यथा-वेदनाओं पर से अपनी आँखें फिराली है करुणा और दया के अटूट सम्बन्ध ने आपके काव्य और व्यक्तित्व दोनो को भाव-विकल बनाया है। भाग्य-चक्र में अपनी सारी राज्य सम्पत्ति विश्वामित्र को दान में देकर हरिश्चन्द्र जब शरद्जलद के समान हल्का और निर्धन हो जाता है—दुनियाँ की

दृष्टि में बहुत ऊपर उठ जाता है। अतीत का विभव-विलास उसके लिए स्वप्न बन कर रह जाता है। वर्तमान में नये पैरों उसका अभिमान प्रिया पुत्र के साथ आत्म-विक्रय के लिए काशी की ओर होता है। दुःख की ज्वाला मानव हृदय को नीच-से-नीच प्रवृत्तियों पर उतार लाती है मगर ऐसा होता है कहीं-कहीं दुःख भूखा का महत्व मानव-मर्यादा से भी अधिक आँका जाता है। ऐसी घड़ियों में हरिश्चन्द्र की कर्तव्य-निष्ठा और आत्म गौरव मानव-श्रद्धा की वस्तु बन कर सामने आती है। वह जीवन धारण के लिए—परिश्रम का भोजन प्राप्त करेगा क्षत्रिय धर्म में किसी की दी हुई वस्तु का ग्रहण उसके लिए अनुचित है।

'भिक्षा या अनुचित पद्धति से ग्रहण न करते भोजन भी
सत्य धर्म से तन क्या विचला डिगता है न कभी मन भी
सत्य बड़ा है सत्पुरुषों का प्रति धारा सा जीवन है
न्याय वृत्ति से पतित न होवे संकट में न प्रकम्पन है।

कवि-जी का हृदय हरिश्चन्द्र की कर्तव्य निष्ठा पर आज गर्वित होकर ही नहीं रह जाता वह दुनियाँ में धनी दीन का संघर्ष उपेक्षा-पीड़ा का कम्प भी अनुभव करता है। इस प्रकार उनकी कल्पना अपनी परिधि बढ़ाकर उन्हें वर्तमान काल की त्रस्त मानवता का चित्र देखने को बाध्य करती है—वह सर्वहारा दल की ओर से नहीं—मानवता की ओर से पुकार उठते हैं—

क्या हुआ है, क्या गया है धनवालो क्या करते हो ?
दीन-दुखी का हृदय कुचलते नहीं जरा भी डरते हो !

लक्ष्मी का क्या पता, आज है कल दरिद्रता छा जाए,
दो दिन की यह चमक-चाँदनी किस पर हो तुम गरवाए ?

× × ×

धन दौलत पाकर भी सेवा अगर किसी की कर न सका,
दया भावना दु खित दिल के जख्मो को यदि भर न सका ।
वह नर अपने जीवन में सुख शान्ति कहाँ मे पाएगा,
ठुकराता है जो औरो को, स्वय ठोकरें खाएगा ।

The Prison yard का अमर चित्रकार अपने चित्रो के लिए I want to paint humanity, humanity and again humanity का उत्साह पालता था, humunity ही अपने उत्कर्ष रूप को लेकर मनुष्य को देवता—नही उससे भी ऊपर—का स्थान प्रदान कर सकती है । हम अपने सुख-दु ख को ससार के सुख दु ख में मिलाकर ही उनका वास्तविक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं । करुणा-दया को समझ कर ही मानव अपने आप को समझ सकता है—हम आत्म चिन्तन की घडियो में इस पर सोचने का कष्ट क्यो नहीं उठाते ? दूसरों की कठिन विपत्ति हमारे लिए कुछ महत्व नही रखती, यह मनुष्यता का अपमान है। हरिश्चन्द्र का राज्य छूटा, प्रिया छूटी और पुत्र छूटा—कर्तव्य की वेदी पर उसने सवस्व का वलिदान किया, चाण्डाल की सेवा वृत्ति स्वीकार की उसका आदश चित्र ससार की आँखो में विस्मय भरने में समर्थ हुआ । अब कवि-श्री के द्वारा चित्रित इसी ससार में रहने वाले द्विज पुत्र का चित्र देखिए ।

रानी शैव्या पति ऋण चुकाने में ब्राह्मण परिवार की दासी वनी—कठिन श्रम उठाना स्वीकार किया उपेक्षा, घृणा, कष्ट

मन मुग्ध —भागे माता-मन रोहित पुत्र को सामने रख कर सहने का व्रत लिया । भविष्य की कल्पनाएँ उसके साथ हैं—कभी रोहित उसका उद्धार कर सकेगा —मगर मार्ग-चक्र में रोहित भी असमय उसका साथ छोड़ देता है, काले सर्प का कठिन प्रहार सुकुमार बालक नहीं सह सका । माता का हृदय एक बार ही विदीर्ण हो गया—उसकी यह चीत्कार—

हा रोहित हा पुत्र ! अकेली छोड़ मुझे तू कहाँ गया ?
मैं जी कर अब बता करूँ क्या ? केवल मुझको यहाँ गया।
पिछला दुख तो भूल न पाई, यह था वज्र नया टूटा ।
हाय तू निर्मोहिन कैसी भाग्य सर्वथा तब फूटा ॥

—यह ध्वनि प्रति ध्वनि किसी भी हृदय को कम्पित कर देने में समर्थ है मगर द्विज-पुत्र को इससे क्या तारा उसकी दासी है उसे सुख पहुँचाने के लिए, अपने स्वर-स्वर से उसका हृदय दुखित करने के लिए नहीं । वह चिल्ला पड़ता है—

रोती क्यों है ? पगली हो क्या गया ? कौन-सा नभ टूटा
बालक ही तो था दासी के जीवन का बन्धन-सूत्र ।

× × ×

क्या उपचार ? मर गया यह तो पुन भी क्या जीवित होवे ?
हम स्वामी दासों के पीछे द्रव्य नहीं अपना खोवें ।
यह स्वामित्व मानवता के लिए कितना बड़ा अभिशाप है ? ओह !

हरिश्चन्द्र का चारित्रिक 'क्लाइमेक्स' कफन कर वसूल करने में हमारे सामने आता है—सेवक का कर्तव्य वह नहीं छोड़ सकता—

उसे तो यह चरम सीमा तक पहुँचा कर ही रहेगा। हरिश्चन्द्र, हरिश्चन्द्र है और सदाचार सदाचार। इस काल के लिए भी सदाचार यदि हरिश्चन्द्र का आदर्श भाता है तो उसका तपस्वी रूप—स्वप्न दशा में सम्भव जान।

कवि श्री का 'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य आदि से अन्त तक भावना का आवेश, एक सच्चा उद्भावना उपस्थित करते जाना काव्य है। इसमें ओज है—प्रवाह है और है सुन्दर कल्पना। हम इसे अपनी विचार धारा में महाकाव्य की कसौटी—नियम-निर्देश से दूर। हरिश्चन्द्र अपने में पूर्ण है, उसका चरित्र भी अपने में पूर्ण है—ऐसी अवस्था में यह हरिश्चन्द्र काव्य, खण्ड काव्य की श्रेणी में किसी तरह नहीं आता।

जानबूझ कर भाषा शैली को दुरूह और अस्पष्ट बनाने की परिपाटी से कवि-श्री जी ने अपनी कविता को पृथक रखा है—उनका उद्देश्य, उनके सामने रहा है और उनका उद्देश्य सब साधारण में human personality मानवीय व्यक्तित्व को प्रश्रय देना मुख्य है। हमें विश्वास है—'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य उनके उद्देश्य को आगे बढ़ावेगा

रत्न-निवास,
लोहामण्डी, आगरा।

—कुमुद विद्यालङ्कार

सत्य हरिश्चन्द्र

'भमर
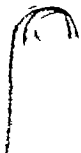
उपक्रम

जगती ज्योति अखण्ड निज शुद्ध सत्य की जय
जय लक्ष्मी सौभाग्य सुख रहते अविचल तत्र ।

आज सत्य की महिमा का मधु गान सुनाने आया हूँ
अन्तस्तल से जन्म-जन्म के पाप धुलाने आया हूँ ।

अखिल विश्व में एक सत्य ही जीवन उच्च बनाता है,
बिना सत्य के जप, तप योगाचार भ्रष्ट हो जाता है ।

वीर प्रभु का-प्रश्न व्याकरण अङ्ग सूत्र मे है कहना
'सत्य स्वयं भगवान इसी की आज्ञा मे निशि-दिन रहना ।

यह पृथ्वी आकाश और यह रवि शशि तारामण्डल भी
एक सत्य पर आधारित है क्षुब्ध महोदधि चंचल भी ।

जो नर अपने मुख से वाणी बोल पुन हट जाते है,
नर-तन पाकर पशु से भी वे जीवन नीच बिताते है ।

मानव-जीवन पुष्प मनोहर सत्य सुरभि है अति प्यारी
बिना सुरभि के पुष्प जगत मे पाता है अपयश भारी ।

नश्वर मृदु तन, नश्वर वैभव, नश्वर मानव-जीवन है,
अविनाशी बस एक मात्र यह त्रिभुवन में सच का धन है।

भारत ने भगवान सत्य की महिमा को पहचाना था,
अस्तु, भूमि से स्वर्गलोक तक कीर्ति-वितान विताना था।

सत्य-धर्म की रक्षा के हित सब कुछ अर्पण कर दीना,
सत्य देव का, प्राणो की बलि देकर भी पूजन कीना।

पता तुम्हे है राम, राज्य तज सहे दु ख के झटके क्यो ?
पता तुम्हे है भूप युधिष्ठिर, वन-प्रतिवन में भटके क्यो ?

सत्य-वीर थे प्रण-प्रतिपालक, सत्य नही अपना छोडा;
अत एव भारती जनता के घट घट से नाता जोडा।

आज विश्व में कलि के कारण बढा असत्य भयकर है,
बूढे, बालक, युवा सभी के मन मे कर बैठा घर है।

गये कहाँ वे जो निज मुख से कहते थे, सो करते थे,
अपने पण की पूर्तिहेतु जो हँसते-हँसते मरते थे।

[illegible] के पहिये की मानिंद पुरुष-वचन चल आज हुए,
[illegible] कुछ, शाम कहा कुछ टोके तो नाराज हुए।

[illegible] विश्व के रगमच से हो असत्य की क्षय क्षय क्षय,
[illegible] से सत्य प्रभू की बोलें जग में जय जय जय।

हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र थे सत्य के व्रती एक भूपाल
सानुराग जीवन सुनें कटें पाप के जाल।

आदि-काल में ऋषभदेव ने
कहाँ धर्म ध्वज फहराया ?
कर्म-विमुख जनता को सत्वर
कर्म-योग का बतलाया ?

कहो कौनसी नगरी है वह
जहाँ भरत का शासन था ?
सुखी प्रजा को जहाँ पुण्य-तम
कभी स्वर्ग-सिंहासन था !

भारत का यह कौशल जनपद
यही अयोध्या नगरी है,

जीवन-सङ्गिनी

तन-मन पर तारुण्य का बहता प्रबल प्रवाह,
प्रजा, सचिव चिन्तित सभी करते क्यो न विवाह !

मन्त्रीश्वर ने कहा—"भूप, क्यों सम्राज्ञी का पद खाली,
यौवन-वय में क्यो न गृही के जीवन में है हरियाली ?
सूर्यवश के राजाओ का न्याय सदा से आया है,
प्रथम गेह में पत्नी व्रत फिर त्याग मार्ग अपनाया है।

किन्तु आपने त्याग मार्ग क्यों पहले ही अपना लीना,
स्वर्ण महल सूना-सूना है, क्यों पूर्वज-पथ तज दीना ?
बडे-बडे राजा, राजेश्वर प्रणय-निमन्त्रण लाते है,
एक एक से सुन्दर कन्याओ के चित्र दिखाते हैं।

किन्तु आपके मन मे क्या है, नही जरा भी 'हाँ' भरते,
जब भी जिक्र जरा सा चलता, तभी शीघ्र 'ना-ना' करते।

पर-धन पर-वनिता पर कोई,
कभी नहीं है ललचाता
अपने श्रम-उद्यम पर सबका
जीवन रथ है गति पाता।

कविता की भाषा मे कहूँ तू
चन्द्र-प्रभा मे क्षय केवल
दण्ड पुरुष का आलम्बन या
कुम्भकार का है सबल।

जनता के मन मे न कालिमा
कृष्ण भ्रमर है फूलो पर
घृणा किसी को नहीं किसी से
घृणा पाप के कर्मों पर!

चंचलता सरिता लहरो मे
मणि-माला में बन्धन है,
सर्प जाति मे मात्र वक्रिमा
सरल प्रकृति से जन-मन है।

जीवन-सङ्गिनी

तन-मन पर तारुण्य का वहता प्रवल प्रवाह,
प्रजा, सचिव चिन्तित सभी करते क्यो न विवाह !

मन्त्रीश्वर ने कहा—"भूप, क्यों सम्राज्ञी का पद खाली,
यौवन-वय मे क्यो न गृही के जीवन मे है हरियाली ?
सूर्यवश के राजाओ का न्याय सदा मे आया है,
प्रथम गेह में पत्नी व्रत फिर त्याग मार्ग अपनाया है।

किन्तु आपने त्याग मार्ग क्यों पहले ही अपना लीना,
स्वर्ण महल सूना-सूना है, क्यो पूर्वज-पथ तज दीना ?
वडे-वडे राजा, राजेश्वर प्रणय-निमन्त्रण लाते है,
एक एक से सुन्दर कन्याओ के चित्र दिखाते हैं।

किन्तु आपके मन मे क्या है, नही जरा भी 'हाँ' भरते,
जब भी जिक्र जरा सा चलता, तभी शीघ्र 'ना-ना' करते।

प्राशाकुल है प्रजा आपकी कहीं भूप वैराग्य न लें
हमें त्याग कर, साधु बन कर, बन-पर्वत की राह न लें।
सही आप में नहीं वासना किन्तु प्रार्थना स्वीकृत हो
महारानि का दर्शन पाकर प्रभो, प्रजा-मन प्रमुदित हो।

कहा भूप ने हँस कर— "मन्त्री व्यर्थ हुई यह चिंता क्या ?
कहाँ त्याग वैराग्य ? गृही की पूर्ण हुई मर्यादा क्या ?
वैवाहिक जीवन की चिन्ता से ही मैं भी चिन्तित हूँ
सूर्यवंश का चुका चलूँ ऋण हुआ मन्त्र समर्पित हूँ।
किन्तु योग्य गृहिणी न मिले तो मंत्री ! मेरा क्या दूषण ?
गृही धर्म में गुणधीमा हो पत्नी है पति का भूषण।"

गीत

गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो
निज परिजन की मन भावन हो।

तन भी सुन्दर, मति भी सुन्दर,
जीवन की हर गति भी सुन्दर,
कथनी सुन्दर, कृति भी सुन्दर,

वह गृहिणी जन जन मानन हो
गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो।

आस पास मे प्रेम की वृष्टि,
नौकर चाकर पर सम दृष्टि,
दीन दुखी पर करुणा सृष्टि,

वह स्नेह दया मे मगन हो,
गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो।

भीम भयकर कष्ट सहे,
किन्तु 'अमर' पति-सग रहे,
इक शब्द बुरा न कदापि कहे,

वह सजनी, गृह सुख-साधन हो,
गृह पत्नी प्रेम-पुजारन हो।

और अधिक क्या मन्त्री को राजा ने निज मत समझाया
अवसर आने पर पत्नी के वरने का प्रण बतलाया।

बीते कुछ दिन यो ही, आया मास वसन्त मनोहारी,
प्रकृति नटी ने शोभा धारण की अति ही प्यारी-प्यारी।
वन उपवन मे, तरु माला पर सुन्दर हरियाली छाई,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन मे अभिनव मादकता आई।

वन-यात्रा को चले हमारे कौशल के अधिनायक भी,
आता है अब समय नृपति का जीवन-रुचि-निर्णायक भी।

सत्य हरिश्चन्द्र

कौशल की पश्चिम सीमा पर शोणप्रस्थ इक पुरवर है,
देवगत राजा है जिनको पाकर आनंद घर-घर है।
राजा हरिश्चन्द्र ने डेरा डाला वहीं सरोवर पर
देख-देख प्रमुदित होते हैं शोभा उपवन की सुन्दर!

राजकुमारी देवराज की श्रेष्ठ सुन्दरी थी तारा
निज सखियों के साथ सरोवर आई शुभ-स्नेहागारा।
पुष्पहार रचकर नाना-विधि क्रीडा-कौतुक करती है,
स्फटिक-स्वच्छ पयाधारा सी राजा का मन हरती है।

वृद्धा एक सरोवर-तट पर जल-घट भरने आती है,
थरथर कर चलने लगती है कम्पित हो गिर जाती है।

प्रस्तर पथ पर लगी चोट अति करती है करुणा क्रन्दन
राजकुमारी तारा भग कर आई झटपट सुन रोदन।

दयाभाव से स्नेह भाव से बुढ़िया की परिचर्या की
स्वस्थचित्त हो बुढ़िया ने भी शुभाशीष की वर्षा की।

"राजकुमारी! नहीं मानुषी तू है देवी सर्वोत्तम
धन्य भाग्य हैं शोण-प्रजा के बरस रहा है सम पर सम।
जैसी है वैसा ही तू पति भी सर्वोत्तम पाना
महिमान्वित हो स्वर्णासन पर तू सम्राज्ञी कहलाना!

गीत

दया विन वावरिया, हीरा जन्म गँवाये,
कि पत्थर से दिल को, क्यो ना फूल बनाये !

कोमलता का भाव न मन में,
फिर क्या सुन्दरता से तन मे,
जीवन विष बरसाये।

दीन दुखी की सेवा कर ले,
पाप-कालिमा अपनी हर ले,
तिहुँ जग मगल गाये !

धन-लक्ष्मी का गर्व न करना,
आखिर तो मब तजकर मरना,
पर-हित क्यो न लुटाये !

यह जीवन है एक कहानी,
पाप पुण्य हैं शेष-निशानी,
'अमर' सत्य समझाये !

राजा ने देखा तो मानस हुआ हर्ष से परि-पूरित,
वोले मत्रीश्वर स "अपना कार्य कीजिए अव प्रमुदित

सम्राज्ञी के सिंहासन का आज प्रश्न हल होता है,
स्वाभाविक सत्कार्य हृदय में बीज प्रेम का बोता है।
अगर ब्याह करना है तो बस इसी नृपति-सुकुमारी से
वर्ना तो आजन्म रहेंगे हरिश्चन्द्र ब्रह्मचारी मे।"

मन्त्री ने झट आकर नृप से करी प्रार्थना हर्षित हो
स्वीकृत निश्चित विहित प्रणय-कृत हुआ सभी सु-स्थिर चित हो।

राजकुमारी तारा देवी महारानि बन आई है,
कौशल-जनपद में सावन-सी हर्ष-घटाएं छाई हैं।

पुरी अयोध्या की जनता ने तारा का स्वागत कीना
'कैसी सुन्दर यह जोड़ी है धन्य-धन्य युग-युग जीना।

राजा-रानी दोनों ही नित प्रजा-पालना करते हैं,
स्थूल भूमि पर सूक्ष्म प्रजा के मन में नित्य विचरते हैं।
तारा की क्या महिमा कहूंगी, श्रेष्ठ सुन्दरी रानी है
धर्म प्राण है पति प्राण है, राजा के मन-मानी है।

तन की मन की सुन्दरता में सभी होड़ है अति भारी
तन से सुन्दर मन है मन से सुन्दर तन की छवि प्यारी।
पढ़ी लिखी विदुषी है गृह के सर्व कार्य में निपुणा है
दयामयी है स्नेहमयी है सदाऽऽचरणमन-धरणा है।

सम्राज्ञी के ऊँचे पद की कभी नहीं ममता खलती
छोटे से छोटे जन से भी स्नेह भावना से मिलती।

मोह-निद्रा

जीवन की गति विकट है, सदा न रहती एक,
चित्त-महोदधि मे सतत, उठती वीचि अनेक।

भारतीय-सस्कृति मे सबने—
गृही—गुणो को गाए है,
पति-पत्नी स्वर्गीय मार्ग के
अविचल पथिक बताए है।

पति-पत्नी मे जहाँ प्रेम का
अमृत-सागर लहराता,
दु ख-द्वन्द्व क्या कभी भूल कर,
वहाँ फटकने भी आता ?

किन्तु प्रेम की सीमा है कुछ,
सीमा ही जग-भूषण है,

सीमा के बिन अच्छा से हाँ
अच्छा पथ भी दूषण है।

रूप मोहिनी तारा को पा
राजा होश गुमा बैठे
विषय भोग के झूले पर सब
निज कर्तव्य भुला बैठे।

रात्रि दिवस संकल्प-लोक मे
तारा तारा राग है
राजनीति के परिचित पथ से
एक दम किया किनारा है।

जब से रोहित पुत्र हुआ तब
से तो दशा निराली है,
जो भी था कुछ शेष कर्म-पथ
उससे दृष्टि हटाली है।

कुछ रानी से कुछ रोहित से
बाते करते दिन जाते
न्यायालय मे कार्यार्थी जन
प्रतिदिन शोर मचा जाते।

रानी को जब पता लगा जन-
पद की दुख-कहानी का,
अपने को ही कारण समझा,
राजा की नादानी का !

"नारी, क्या कर्तव्य-भ्रष्ट ही
करती जग में मानव को,
देश, जाति के जीवन में क्या,
पैदा करती लाघव को।"

"सरस्वती, लक्ष्मी की सखियाँ,
क्या महलो की तितली हैं ?

लक्ष्य-भ्रष्ट हो नर ने समझा,
वे भोगो की पुतली हैं।"

"यही प्रेम क्या, ऋषि मुनियों ने
जिसकी गाई है महिमा,
नही प्रेम यह, नीच मोह है,
होती है जिससे लघिमा।"

"रूप-लुब्ध नर मोह-पाश मे,
बँधा प्रेम क्या कर सकता,

श्वेत मृत्तिका मोहित कैसे
जीवन तत्व परख सकता ?"

'मैं कोशल की रानी हूँ बस
नहीं भोग पर घूमी
कर्म-योग की कण्टक-शोभा
पर ही मगन झूमी।

"यह शोभा शृङ्गार सकल तज
तपस्विनी बन जाता है,
सत्य भ्रष्ट राजा को फिर से
नीति-मार्ग समझाता है।"

जागरण

राजा ने कर्तव्य पर, किया अटल विश्वास,
स्वीकृत कर पथ त्याग का छोड़े भोग विलास।

राग-रङ्ग शृङ्गार सभी से रानी ने निज मुख मोड़ा,
भोग पिपासा जनक वस्त्र औ' भूषण से नाता तोड़ा।
सीधी-सादी-सी गृहिणी बन गई रूपसी क्षण-भर में;
आन विराजी विलासिता की जगह सादगी मन्दिर मे।

आज नारियाँ अपने पति को मोह पाश मे रखने को,
करती क्या-क्या जादू टोने, गिरा गर्त में अपने को।
कहाँ पूर्व युग तारा देखो निष्कलक पथ पर चलती,
स्वय भोग तज, पति के हित दृढ त्याग साधना में ढलती।

आकस्मिक यह लख परिवर्तन राजा हुए चकित विस्मित,
लगे पूछने, रानी से सस्नेह भावना से सस्मित।

"आज प्रिये क्या हुआ तुम्हें, यह कैसा अभिनव परिवर्तन ?
पुष्प-सुकोमल गात्र तुम्हारा यह कैसा कण्टक-जीवन ?
अलंकार से शून्य देह पर यह मोटी साड़ी कैसी ?
कौशल की सम्राज्ञी कैसी अभी दीन दुखिया जैसी !

अगर दोष कुछ मेरा हो तो कर अनुभाव क्षमा कीजे
और किसी से हुआ निरादर वह भी शीघ्र बता दीजे ।
सम्राज्ञी का करे निरादर फिर क्या आशा जीवन की
नाम बताते ही मैं बोटी-बोटी कर दूं या तन की !
रानी बोली तन कर —"हाँ हाँ यही आप कर सकते हैं,
रक्षण तो क्या दीन-प्रजा का जीवन ही हर सकते हैं ।
हृदय हीनता की सीमा है, राजा भी क्या मानव है,
शासन दण्ड प्राप्त कर मानव बनता सचमुच दानव है ।

लघुतम सा अपराध कहाँ औ कहाँ किंकरी का मर्दन
न्याय नहीं यह सत्ता का है गर्व-भरा ताण्डव-नर्तन ।
मेरे दासी-दास मुझे निज प्राणों से भी प्यारे हैं,
स्वेद बिन्दु पर जीवन देते स्वार्थ दम्भ से न्यारे हैं ।
अधिक चातुरता दम्भ-युक्त होती है बस-बस क्या लेना
अपना दोष और के सिर पर अच्छा नहीं लगा देना ।
विस्मय युत हो हरिश्चन्द्र ने कहा— प्रिये क्या कहती हो ?
मैं दोषी हूँ कहो कौन से भ्रान्ति-सिन्धु में बहती हो ?

व्याह दिवस से तुझे स्नेहवश शिर-आँखो पर रक्खा है,
मैंने तो सर्वस्व निछावर तुझ पर ही कर रक्खा है।"

तारा बोली—"रहने दीजे, ये चिकनी चुपडी बातें,
ऊपर के मधु-वर्षण से क्या, मिटी न जो दिल की घातें।
यह वैभव, यह सुख-सज्जा, सच कहदूँ प्रेम नही होता,
सच्चा प्रेम हृदय से होता कटुता के मल को धोता।

सम्राज्ञी का आसन पाकर मैंने क्या गौरव पाया?
नारी जीवन के पद-पद पर दृढ अभेद्य बंधन छाया।
स्वय आप जो कुछ लाते हैं, वह मैं अपना लेती हूँ,
पर स्वतन्त्र निज मन की गति को नही उभरने देती हूँ।"

'क्या स्वतन्त्र इच्छा है कहिए" हरिश्चन्द्र राजा बोले,
रानी ने भी निज पति के हित स्पष्ट भाव मन के खोले।

"बीते युग की क्या इच्छाएँ, वर्तमान ही रख लीजे,
सत्य स्नेह है, नही झूठ है, निश्छल हो दिखला दीजे।
स्वर्ण-पुच्छ मृग, शिशु रोहित के लिये अतीव अपेक्षित है,
क्रीडा प्रिय है, बालक है, पर पैत्रिक-प्रेम उपेक्षित है।"

राजा सहसा बोल उठा—हा, रानी, यह क्या कहती हो?
कैसे निज भर्ता का निज-कृत तिरस्कार तुम सहती हो?
पितृ-हृदय की कोमलता को स्पष्ट न तुमने लख पाया,
रोहित मेरा पुत्र, उपेक्षा भाव कहाँ क्या दिखलाया?

एक नहीं शत स्वर्ण पुच्छ के मृगशिशु मैं ला सकता हूँ
तुच्छ बात पर इतनी झंझट तुमको क्या कह सकता हूँ ?"
तारा बोली—"अगर प्रेम है नौकर से मत मँगवाएं
सूम्य वनो में सतत भ्रमण कर स्वयं आप ही ले आएँ।
एक पक्ष की मर्यादा मृगशिशु की खोज लगा लेना
पश्चात्तर दासी को पतिदेव शीघ्र दर्शन देना।

हरिश्चन्द्र कुछ सैनिक लेकर चला सघन वन कानन को
मन्द-पवन से स्फूर्तियुक्त दृढ़ होते देखा निज तन को।
माना विधि पक्षी गगन नभ में पंक्तिबद्ध होकर उड़ते
तरु-शृंगों पर कल-रव द्वारा पथिकों के मन को हरते।

वन भूमा से लदे हुमा की शोभा अति ही सुन्दर है,
मंहरी छाया श्रान्त क्लान्त के लिए स्वर्ण से बढ़कर है।
एक-एक से सुन्दर पशु भी फिरते हैं सीमा अति से
अधिक और मृग कोमल वपु है, भद्र प्रकृति से आकृति से।

क्रुद्ध सिंह की भीम गर्जना आती है गिरि गह्वर से
मृग-पति बना शक्ति के बल पर कहती है कम्पित नर से।
श्वेत स्वच्छ रजताकृति निर्झर उन्नत गति झर-झर बहता
पलभर का विश्राम न लता, गन्ध शैल-टक्कर सहता।

राजा हर्षित हुआ देखकर प्रकृति नटी की सुन्दरता
जीवन में कर्तव्य लगा छूट गई भोग की निष्ठुरता।

व्याह दिवस से तुझे स्नेहवश शिर-आँखों पर रक्खा है,
मैंने तो सर्वस्व निछावर तुझ पर ही कर रक्खा है।"

तारा बोली—"रहने दीजे, ये चिकनी चुपड़ी बातें,
ऊपर के मधु-वर्षण से क्या, मिटी न जो दिल की घातें।
यह वैभव, यह सुख-सज्जा, सच कहदूँ प्रेम नहीं होता,
सच्चा प्रेम हृदय से होता कटुता के मल को धोता।

सम्राज्ञी का आसन पाकर मैंने क्या गौरव पाया?
नारी जीवन के पद-पद पर दृढ़ अभेद्य बंधन छाया।
स्वयं आप जो कुछ लाते हैं, वह मैं अपना लेती हूँ,
पर स्वतंत्र निज मन की गति को नहीं उभरने देती हूँ।"

"क्या स्वतंत्र इच्छा है कहिए" हरिश्चन्द्र राजा बोले,
रानी ने भी निज पति के हित स्पष्ट भाव मन के खोले।

"बीते युग की क्या इच्छाएँ, वर्तमान ही रख लीजे,
सत्य स्नेह है, नहीं झूठ है, निश्छल हो दिखला दीजे।
स्वर्ण-पुच्छ मृग, शिशु रोहित के लिये अतीव अपेक्षित है;
क्रीडा प्रिय है, बालक है, पर पैत्रिक-प्रेम उपेक्षित है।"

राजा सहसा बोल उठा—हा, रानी, यह क्या कहती हो?
कैसे निज भर्ता का निज-कृत तिरस्कार तुम सहती हो?
पितृ-हृदय की कोमलता को स्पष्ट न तुमने लख पाया,
रोहित मेरा पुत्र, उपेक्षा भाव कहाँ क्या दिखलाया?

"झूठ बना है, भला कहीं भी सोने का मृग हो सकता ?
अटल प्रकृति का नियम कभी क्या निज मर्यादा खो सकता ?
तारा ने यह क्या माया रच मुझको विभ्रम में डाला
कुटिल हृदय है नारी का कुछ दिखता है काला-काला !

स्नेह पाश में जिसके मैंने निज कर्तव्य भुला दीना
दीन प्रजा की सुख-दुख भूला अवनति का दुष्पथ चीना।
वही मोहिनी बनी द्रोहिणी दम्भ-जाल रचने वाली
अमृत में विष भरा अरे यह दुनिया है बस मतवाली !

पल में फिर चित का बदला— 'पापी मन यह क्या सोचा
पतिव्रता के शुभ चरित्र पर फेरा क्या गन्दा पोचा।
तारा का मन सपने में भी कभी न उत्पथ जा सकता
लाख-लाख संकट सहकर भी भाव विरूप न ला सकता।

सूर्य चन्द्र की मर्यादा का भेद भले ही मिट जाए
क्या मजाल जो तारा अपने शील-मार्ग से हट जाए ?
संभव है, इस घटना में हो कोई गूढ़ रहस्य छिपा
भाग्यवती तारा के द्वारा नियति-नटी की हो न कृपा ?"

वन से लौटे तो जनपद की दशा दृष्टि में आई है,
शान्त हृदय पर प्रजा व्यथा घन घोर घटा बन छाई है
गाँव-गाँव में तन पर मन पर बड़ी गरीबी जब पड़ती
दीन-प्रजा जीवित होते भी मुर्दों के सदृश सड़ती।

गीत

रे नगर के कीट नर, कब शान्त वन मे आयगा,
देखकर शोभा प्रकृति की कब हृदय हरपायगा।

आंख दोनो खोल कर कुछ देखले, कुछ सीखले,
शिष्य बन कुछ दिन प्रकृति का, स्वच्छ जीवन पायगा!

प्राप्त कर सद्गुण न बन पागल प्रतिष्ठा के लिए,
जब खिलेगा फूल खुद अलिवृन्द आ मंडरायगा।

फूल-फल से युक्त होकर वृक्ष झुक जाते स्वय,
पाके गौरव मान कब तू नम्रता दिखलायगा!

रात दिन अविराम गति से देख झरना वह रहा,
क्या तू अपने लक्ष्य के प्रति यो उछलता जायगा।

दूसरा के हित 'अमर' जल सग्रही सरवर बना,
दीन के हित धन लुटाना क्या कभी मन भायगा!

पक्षाधिक वन पथ मे भटका, स्वर्ण पुच्छ क्या मिलना था,
यह तो केवल बुद्धियोग से कर्मयोग मे ढलना था।
सहस्राधिक मृगशिशु आखो के आगे से प्रति दिन निकले,
किन्तु न देखा स्वर्ण हरिण, जब, हरिश्चन्द्र खुद ही संभले।

"मूढ़ बना है, भला कहीं भी सोने का मृग हो सकता ?
अटल प्रकृति का नियम कभी क्या निज मर्यादा खो सकता ?
तारा ने यह क्या माया रच मुझको विभ्रम में डाला
कुटिल हृदय है नारी का कुछ दिखता है काला-काला !

स्नेह-पाश में जिसके मैंने निज कर्तव्य भुला दीना
दीन प्रजा की सुध-बुध भूला प्रजापति का शुभयश छीना।
वही मोहिनी बनी द्रोहिणी दम्भ-धाम रखने वाली
अमृत में विष भरा अरे यह दुनिया है बस मतवाली !"

पल में भिन्न चित्त का बदला— 'पापी मन यह क्या सोचा
पतिव्रता के शुभ-चरित्र पर फेरा क्या गन्दा पोचा।
तारा का मन सपने में भी कभी न उत्पथ जा सकता
लाख-लाख संकट सहकर भी भाव विरूप न ला सकता।

सूर्य चन्द्र की मर्यादा का भेद भले ही मिट जाए,
क्या मजाल जो तारा अपने शील-मार्ग से हट जाए ?
संभव है, इस घटना में हो कोई गूढ़ रहस्य छिपा
भाग्यवती तारा के द्वारा नियति-नटी की हो न कृपा ?'

वन से लौटे तो जनपद की दशा दृष्टि में आई है,
शान्त हृदय पर प्रजा व्यथा बन घोर घटा बन छाई है
गाँव-गाँव में तन पर, मन पर बड़ी गरीबी लख पड़ती
दीन प्रजा जीवित होते भी मुर्दों के सदृश सड़ती।

गीत

रे नगर के कीट नर, कब शान्त वन मे आयगा,
देखकर शोभा प्रकृति की कब हृदय हरपायगा।

आँख दोनो खोल कर कुछ देखले, कुछ सीखले,
शिष्य बन कुछ दिन प्रकृति का, स्वच्छ जीवन पायगा।

प्राप्त कर सद्गुण न बन पागल प्रतिष्ठा के लिए,
जब खिलेगा फूल खुद अलिवृन्द आ मँडरायगा।

फूल-फल से युक्त होकर वृक्ष झुक जाते स्वय,
पाके गौरव मान कब तू नम्रता दिखलायगा।

रात दिन अविराम गति से देख झरना बह रहा,
क्या तू अपने लक्ष्य के प्रति यो उछलता जायगा।

दूसरो के हित 'अमर' जल सग्रही सरवर बना,
दीन के हित धन लुटाना क्या कभी मन भायगा।

पक्षाधिक वन पथ मे भटका, स्वर्ण पुच्छ क्या मिलना था,
यह तो केवल बुद्धियोग से कर्मयोग मे ढलना था।
सहस्राधिक मृगशिशु आखो के आगे से प्रति दिन निकले,
किन्तु न देखा स्वर्ण हरिण, जब, हरिश्चन्द्र खुद ही सँभले।

पुनर्मिलन

वन में मृग शिशु के लिए, जब से गए नृपाल
तारा ने पति-विरह का पाया कष्ट कराल!

रानी ने कर्तव्य-विवश हो राजा को भेजा वन में
सोचा देखें दीन प्रजा की दशा विचारें कुछ मन में।
कुछ दिन मुझ से अलग रहें तो स्वयं वासना से छूटें
कर्म-योग में रत हों बन्धन सभी अविद्या के टूटें।

अमृत-घट पर विष का ढक्कन तारा का यह जीवन था
ऊपर पत्थर, किन्तु हृदय के अन्दर मृदुतम मक्खन था!
भूपति के जाने के पीछे कोमलता ऊपर आई,
पतिव्रता के तन पर, मन पर निजपति की चिन्ता छाई!

"निर्जन वन में कहाँ भटकते होंगे मेरे प्राणाधार
भूख-प्यास की पीड़ाओं का कैसे सहते होंगे भार!

आंखो देखा, सुना कान से, शासन की न व्यवस्था है,
हरिश्चन्द्र ने समझा तेरे कारण ही दुरवस्था है।

'तूने भोग विलासी बन कर निज कर्तव्य भुला डाला,
दीन प्रजा को पड़ा, लालची अधिकारी गण से पाला।
अब न भूल यह होने दूंगा, शासन-सूत्र संभालूंगा,
कौशल में से भूख, दैन्य, अन्याय, अधर्म निकालूंगा।

सूर्यवंश की न्याय पताका अब न कलंकित होवेगी,
सत्यव्रत की सन्तति अपनी मर्यादा कब खोवेगी?"
पथ में मिलते बाल, वृद्ध, नवयुवको से बातें करते,
पास अयोध्या के आ पहुँचे भव्य-भाव मन मे भरते।

पुनर्मिलन

वन में मृग शिशु के लिए, जब से गए नृपाल
तारा ने पति-विरह का, पाया कष्ट कराल !

रानी ने कर्तव्य-विवश हो राजा को भेजा वन में
सोचो कैसे दीन प्रजा की दशा विचारें कुछ मन में।
कुछ दिन मुझ से अलग रहें तो स्वयं वासना से छूटें
कर्म-योग में रत हों बन्धन सभी अविद्या के टूटें।

अमृत-घट पर विष का ढक्कन तारा का यह जीवन था
ऊपर पत्थर, किन्तु हृदय के अन्दर मृदुतम मक्खन था।
भूपति के जाने के पीछे कोमलता ऊपर आई
पतिव्रता के तन पर, मन पर निजपति की चिन्ता छाई।

"निर्जन वन में कहाँ भटकते होंगे मेरे प्राणाधार,
भूख-प्यास की पीड़ाओं का कैसे सहते होंगे भार।

फूल-सेज पर सोने वाले पृथिवी पर सोते होगे,
हा ! हा !! कैसे पुष्प सुकोमल अङ्ग-अङ्ग दुखते होगे !
वे दुख भोगे, मैं सुख भोगू, ठीक नही मुझको जँचता,
पतिव्रता क्या, पापिन हूँ मै, भीषण पाप मुझे लगता !"

रानी भी व्रत-तपश्चरण मे लगी, क्षुधा तृष्णा सहती,
कभी कभी तो रूखा सूखा भोजन खाकर ही रहती !
भूमि-शयन करती है, आधी रात रहे पर जग जाती,
पद्मासन से बैठ शान्ति-हित शान्तिनाथ के गुण गाती !

पक्षाधिक बीता तो चिन्ता-चक्र हृदय को चीर गया,
स्वर्ण-महल में मन न लगा, तब लताकुंज का मार्ग लिया !
सखी मल्लिका को सङ्ग लेकर रानी उपवन मे आई,
लता-कुञ्ज मे शिला-पट्ट पर बैठ सखी से बतलाई !

"यही कुंज है, जिसमें पति के संग अनेको दिन बीते,
हर्ष, मोद, आमोद सभी कुछ पूर्ण किये बस, मन चीते !
आज वही सुख कुंज, कुंज हा, मुझे काटने आता है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन का स्पर्श न मुझको भाता है !
सच है, पति के विना सर्वथा पत्नी की दुनिया सूनी;
अन्तस्तल को चीर-चीर कर व्यथा जागती दिन-दूनी !
मै तो बडी अभागन हूँ, जो स्वयं निकाला निज पति को,

सूर्यवंश की महिमा का बस भूत चढ़ा था मम मति को !
स्वर्ण पुष्प मृग मला कहाँ से किस बन से पति लायेंगे,
सम्भव हो न असम्भव घटना वृथा कलेश ही पाएँगे ।

गीत

पतिदेव आज तुम कहाँ दिल मेरा बेकरार है
रस हीन शून्य विश्व है, यह जन्म भी असार है ।

अन्दर हृदय में शोक की ज्वाला प्रबल धधक रही
बाहर बसन्त की वृथा छाई हुई बहार है ।

दिल खण्ड खण्ड हो गया सुख स्वप्न भङ्ग हो गया
जब से वियोग-वज्र का पड़ने लगा प्रहार है !

सूने बना में भूख की और प्यास की महती व्यथा,
सहते हैं आप जो मेरे दुर्भाग्य की वह मार है !

दुख आप बन में भोगते मैं महल में सुखी रहूँ
यह सुख रहा है नरक का मेरे लिये तो ग़ार है !

मुझ पै न रोष लाइये बस शीघ्र लौट आइये
जीवन कहाँ है, कण्ठ पै मम की फिरी कटार है !

रानी के दुखित अन्तर में लगी उमड़ने शोक घटा
मूर्च्छा खाकर पड़ी भूमि पर जैसे जड़ से वृक्ष कटा ।

फूल-सेज पर सोने वाले पृथिवी पर सोते होंगे,
हा ! हा !! कैसे पुष्प सुकोमल अङ्ग-अङ्ग दुखते होंगे !
वे दुख भोगें, मैं सुख भोगूँ, ठीक नहीं मुझको जँचता,
पतिव्रता क्या, पापिन हूँ मैं, भीषण पाप मुझे लगता !"

रानी भी व्रत-तपश्चरण मे लगी, क्षुधा तृष्णा सहती,
कभी-कभी तो रूखा सूखा भोजन खाकर ही रहती !
भूमि-शयन करती है, आधी रात रहे पर जग जाती,
पद्मासन से बैठ शान्ति-हित शान्तिनाथ के गुण गाती !

पक्षाधिक बीता तो चिन्ता-चक्र हृदय को चीर गया,
स्वर्ण-महल में मन न लगा, तब लताकुंज का मार्ग लिया !
सखी मल्लिका को सङ्ग लेकर रानी उपवन मे आई,
लता-कुञ्ज मे शिला-पट्ट पर बैठ सखी से बतलाई !

"यही कुंज है, जिसमें पति के संग अनेकों दिन बीते,
हर्ष, मोद, आमोद सभी कुछ पूर्ण किये वस, मन चीते !
आज वही सुख कुंज, कुंज हा, मुझे काटने आता है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन का स्पर्श न मुझको भाता है !
सच है, पति के विना सर्वथा पत्नी की दुनिया सूनी;
अन्तस्तल को चीर-चीर कर व्यथा जागती दिन-दूनी !
मैं तो बडी अभागन हूँ, जो स्वयं निकाला निज पति को,

"आप कहें क्या कुछ ऐसा ही हृदय बना है नारी का
दुर्बल मन है दास प्रभुमय प्राणप्यारी का।
वन में क्या-क्या कष्ट सहेंगे कुछ भी ना सोचा पहले
किन्तु प्रमस्वर प्राणप्रिया से मानस के चिन्तन बदले।
हो जाता है कुछ ऐसा ही इसकी क्या चिन्ता करनी
स्वर्ण-पुच्छ मृग कहाँ कि जिसके कारण पत्नी व्यथा भरनी।

राजा हँस कर बोले— 'तुम तो बड़ी विलक्षण हो रानी'
स्वप्न-लोक की व्यर्थ कल्पनाओं से क्या मानी-जानी?
पशाधिक वन प्रतिदिन घूमा देखे पशु पक्षी नाना,
किन्तु तुम्हारा स्वर्ण-पुच्छ मृग देख न पाया क्या पाना।
तुमसी बुद्धिमती नारी क्या कभी असम्भव हठ ठाने,
गुप्त-रहस्य क्या इसमें? बतला दीजे हम भी तो जानें।

गीत

प्राणेश्वर, रवि तेज को दीपक का दिखलाना क्या?
मन-आशा की बात का मर्म तुम्हें समझाना क्या?

पशु पक्षी क्या गिरि निर्झर क्या पवन दौड़ता फिरता है
अखिल विश्व गतिमय न कहीं भी पलभर की भी स्थिरता है
बहते जल का गर्त में सड़-सड़ कर सुख पाना क्या?

सखी मल्लिका समभानी थी वह भी सब सुध-बुध भूली,
क्या कुछ करे, कराये ? कुछ भी समझ न पाई मति फूली ।

लता कुंज की ओट अयोध्यापति भी आकुल व्याकुल थे,
रानी का लख स्नेह निसर्गज, प्रेमभाव मे विह्वल थे ।
ज्यो ही देखी मूर्च्छित रानी सहसा अन्दर को धाये,
अंचल से कर शीघ्र हवा, जल छिड़क चेतना में लाये ।

पति को सम्मुख लख रानी के नही हर्ष का पार रहा,
नेत्र-युगल से अश्रु-रूप मे झर-झर प्रेम-प्रवाह वहा ।
पति के चरणो में वन्दन कर पूछी वनगत सुख साता,
गद्गद् होकर हरिश्चन्द्र भी बोले कौशल के त्राता ।

"मेरी क्या चिन्ता, मैं तो हूँ चङ्गा वन में जाकर भी,
पर तुमने क्या हाल वनाया, राजमहल के अन्दर भी ।
दुर्बलता कितनी छाई है वनी दोज की चन्द्र-कला,
खान पान की सुध-बुध भूली, यह क्या चिन्ता-चक्र चला ।
समझदार होकर भी तुम तो वनी सर्वथा ही भोली,
कुछ दिन के ही लिये गया था, इस पर यह काया डोली ।"

तारा हो प्रकृतिस्थ शीघ्र ही सस्मित बोली मृदु वाणी,
स्वच्छ हृदय पट खोल रही है, कपट न रखती कल्याणी ।

"नाथ कहूँ क्या कुछ ऐसा ही हृदय बना है नारी का
दुर्बल मन है दास सदा भ्रम आशङ्का हत्यारी का।
मन में क्या-क्या कष्ट सहेंगे कुछ भी ना सोचा पहले
किन्तु अनन्तर आशङ्का से मानस के चिन्तन बदले।
हो जाता है कुछ ऐसा ही इसकी क्या चिन्ता करनी
स्वर्ण-पुच्छ मृग कहाँ कि जिसके कारण पत्नी व्यथा भरनी।

राजा हँस कर बोले— 'तुम तो बड़ी विलक्षण हो रानी'
स्वप्न-लोक की व्यर्थ कल्पनाओं से क्या आनी-जानी?
यथाविध वन प्रतिवन घूमा देखे पशु पक्षी नाना;
किन्तु तुम्हारा स्वर्ण-पुच्छ मृग देख न पाया क्या पाना।
तुमसी बुद्धिमती नारी क्या कभी असम्भव हठ ठाने;
गुप्त-रहस्य क्या इसमें? बतला दीजे हम भी तो जानें।

गीत

प्राणेश्वर, रवि-तेज को दीपक का दिखलाना क्या?
मन-माया की बात का मर्म तुम्हें समझाना क्या?

पशु पक्षी क्या गिरि निर्झर क्या पवन दौड़ता फिरता है
अखिल विश्व गतिमय न कहीं भी पलभर की भी स्थिरता है
बहते जल का गर्त में सड़-सड़ कर सुख पाना क्या?

स्वर्ण पुच्छ मम पूर्ण असम्भव शान्त वासना भोगा की,
कर्म शून्य नर तेजहीन हो, वनता वसती रोगों की,
हरा भरा वन-कर्म के पथ का नहिं दीवाना वृथा ?

मानव तन अनमोल प्राप्त कर कर्म-योग का पाठ पढो,
जीवन नभ मे प्रतिपल प्रतिदिन 'अमर' तेज की ओर वढो,
कर्म योग की तान बिन जीवन वाद्य वजाना वृथा ?

गीत

प्राण प्रिये, वन-भूमि का सुन्दर साज सजाना है,
वन यात्रा के मर्म को जीवन पथ मे लाना है !

वन गुलाव ने सर्दी-गर्मी तूफानों का कष्ट सहा,
छोडा किन्तु न मार्ग प्रगति का तभी शान मे महक रहा,
मानव निर्झर रूप है, उसे कहाँ सुस्ताना है ?
मानव होकर भी जो अपना लक्ष्य न पूरा कर पाया,
वह इस वसुधा मण्डल पर, यदि आया भी तो क्या आया,
भोग निरत होकर अमल जीवन-पुष्प सडाना है !
मानव तो आनन्द, स्फूर्ति, उत्साह, प्रगति का अनुगामी,
लक्ष्य भूल कर सुख निद्रित हो बन जाता है प्रतिगामी,
'अमर' आज से कर्म का पथ अपना अपनाना है !

"धन्य, धन्य, शतवार धन्य है, रानी ! तू सचमुच रानी,
समझाया कर्तव्य मार्ग का पाठ हितङ्कर सुख-दानी !

सूर्यवंश के गौरव का मैं सदा सुरक्षित रक्खा था
दीन प्रजा की उन्नति के हित उठा न कुछ भी रक्खा था।

सन्ध्या होते राजमहल में आये भूपति औ' तारा
वन-प्रदेश-दर्शन में गुजरा पूर्वभाग निशि का सारा।
किंचित्काल शयन कर प्रातः उठे उषा की गरिमा में
शौच स्नान से निबट शीघ्र ही लगे विश्वेश्वर-महिमा में।

राज-सभा में उचित समय पर किया सुशोभित सिंहासन
पक्षपात से रहित न्याय कर किया प्रजा का मन-पावन।
अन्तर शासक औ शासित का भूला प्रेम का पथ सीखा
कष्ट किये सब दूर प्रजा के घर-घर में मङ्गल दीखा।

सदाचार व्यवसाय कला की शिक्षा का परिवाह बहा
दूर हुए अपराध हेतु तो अपराधों का नाम कहाँ?
सूर्योदय होने पर जैसे उल्लू चोर छिप जाते हैं,
अत्याचारी व्यभिचारी जन ढूँढे नजर न आते हैं।

कौशल में सब ओर शान्ति का वैभव का सुवितान तना
दिग्दिगन्त में भूप-यश फैला पूर्ण सत्य का राज्य बना।
गुण के धनी कर्मठ मानव जिस पथ पर बढ़ जाते हैं,
एक बार तो रौरव को भी स्वर्ग बना दिखलाते हैं।

इन्द्र-सभा

अखिल विश्व मे सत्य ही एक मात्र है श्रेय,
होता सत्य प्रतिज्ञ का त्रिभुवन मे यश गेय।

स्वर्ग-लोक मे इन्द्र देव की सभा लगी है अति महती,
नाना वेश-विभूषा-भूषित देवराज-राजित वृहती।
पारिजात की मालाएँ सब ओर मनोहर लटक रही,
मादक सुरभि-गन्ध से सारी सभा भूमि है महक रही।
रत्नो का आलोक समुज्ज्वल प्रभा-पुञ्ज सा फैला है,
प्रति विम्बित देवी देवो का लगा भित्ति पर मेला है।
एक एक से वजते कोमल वाद्य-यन्त्र सुषमा-शाली,
कोकिल कण्ठी सुर वालाएँ नाच रही हैं मतवाली।
कहा इन्द्र ने—"गान सदा ही विषय भोग के होते है,
देव देवियाँ वृथा अमोलक समय पाप मे खोते हैं।
सवश्रेष्ठ है सत्य, आज बस गान इसी का होने दो,
मानस-पट से मलिन वासनाओ का कलिमल धोने दो।

आज्ञा पाकर सुर बालाएँ सभी सत्य के गुण गाने
गायन क्या था स्वर-लहरी से सभी सुधा ही बरसाने।

गीत

पूजा रोज रचाओ मन में सत्य भगवान की
पापी से भी पापियों की जिन्दगी हो धाम की।

आगे को बढ़ा के पैर पीछे को हटाना क्या?
शूली हो या फाँसी होवे दिल धड़काना क्या?

प्राण भी दे रक्षा करनी अपनी जबान की।

सत्य के पुजारी होके फिर ललचाना क्या?
विश्व की विभूति आगे हाथ फैलाना क्या?

एक मात्र अभिलाषा सत्य के वरदान की।

कच्छी और मालाओं से मर्दन गुदाना क्या?
भूखे-प्यासे रह रहकर तपसी कहाना क्या?

बाहर से लेना क्या यहाँ परख ईमान की!

सत्य छोड़ नरी मासों तीर्थों में मारा फिरा
वासना का मेघ बन घोर काला और घिरा;

मिथ्या-भ्रमण में फँस आत्मा हैरान की।

सत्य की चमक चाँद तेज सूर्य दिखलाता,
सत्य के प्रभाव से 'अमर' विश्व झुक जाता,

सत्य के सहारे धुरा जमी आसमान की।

सत्य धर्म का गान श्रवण कर सभा हुई हर्षित सारी,
मुक्त कण्ठ से नर्तकियो की हुई प्रशसा अति भारी।

आनन्दित हो देवराज भी लगे प्रेम से यों कहने,
मन्दर गिरि के स्वर्ण शृङ्ग से लगा शान्त निर्झर वहने।

"सत्य वस्तुत अटल सत्य है, वडी सत्य की गरिमा है,
स्वर्ग लोक का यह वैभव भी मात्र सत्य की महिमा है।

यत्र तत्र सर्वत्र विश्व में जहाँ कही भी उन्नति है,
एक मात्र भगवान सत्य की करुणा की ही सद्गति है।

सत्य श्रवण की चीज नही है, वह तो जीवन मे उतरे,
तभी वस्तुत उपयोगी हो, जीवन अथ से इति सुधरे!

धन्य, धन्य वह जो कि सत्य की पूर्ण पालना करता है,
जागृत तो क्या स्वप्न जगत में भी न वञ्चना करता है।

स्वर्गलोक मे सुर होकर भी नही सत्य पर हम चलते,
किन्तु भूमि पर हरिश्चन्द्र से नर न कभी प्रण से हिलते।

हरिश्चन्द्र की कृति, मति, वाणी नही सत्य से खाली है,
[illegible] तेल दुग्ध मे घृत की व्याप्ति समझने वाली है।

हरिश्चन्द्र को सत्य-मार्ग से विचलित कौन कर सकता है,
क्या कभी भी चन्द्र उष्ण या रवि शीतल बन सकता है?

आओ मिलकर सभी सत्य के गौरव की गाथा गाएँ,
हरिश्चन्द्र के चरणों में कर वन्दन पावन गति पाएँ।

देवराज का कथन श्रवण कर सभी हुए सुर आनन्दित,
किन्तु देवता एक कुटिलमति हुआ व्यर्थ ही उत्पीड़ित।

सज्जन औं दुर्जन का अन्तर स्पष्ट व्यास यह कहता है,
'एक प्रशंसा सुन हर्षित हो एक शोक में बहता है।'

प्राणों की आहुति देकर भी दुखिया का दुख दूर करे,
हानि देखकर पर की सज्जन अपने मन में झूर मरे।

दुर्जन की क्या उलटी गति है हानि देखकर खुश होना,
हिम प्रस्तर ज्यों धान्य नष्ट कर खुद भी गल कर तन खोना।

हृदय कपट से मुख दुर्वच से नेत्र क्रोध से भरा हुआ,
रहता है दिन रात दुष्ट का अन्तर जीवन सड़ा हुआ।

वर्षा में सब वृक्षावलियाँ हरी भरी हो जाती हैं,
किन्तु जवासे की शाखाएँ नित्य सूखती जाती हैं।

हाँ तो वह शठ देव भूप की सत्य प्रशंसा सुन करके,
बना राख अन्दर ही अन्दर अपने मन में जल करके।

मत्य की चमक चाँद तेज सूर्य दिखलाना,
सत्य के प्रभाव से 'ग्रमर' विश्व झुक जाता,

सत्य के सहारे धुरा जमी ग्रासमान की।

सत्य धर्म का गान श्रवण कर सभा हुई हर्षित सारी,
मुक्त कण्ठ से नर्तकियो की हुई प्रशसा ग्रति भारी।

ग्रानन्दित हो देवराज भी लगे प्रेम से यो कहने,
मन्दर गिरि के स्वर्ण शृङ्ग से लगा शान्त निर्झर वहने।

"सत्य वस्तुत ग्रटल मत्य है, वडी सत्य की गरिमा है,
स्वर्ग लोक का यह वैभव भी मात्र सत्य की महिमा है।

यत्र तत्र सर्वत्र विश्व मे जहाँ कही भी उन्नति है,
एक मात्र भगवान सत्य की करुणा की ही सद्गति है।

सत्य श्रवण की चीज नही है, वह तो जीवन मे उतरे,
तभी वस्तुत उपयोगी हो, जीवन ग्रथ से इति सुधरे।

धन्य, धन्य वह जो कि सत्य की पूर्ण पालना करता है,
जागृत तो क्या स्वप्न जगत मे भी न वञ्चना करता है।

स्वर्गलोक मे सुर होकर भी नही सत्य पर हम चलते,
किन्तु भूमि पर हरिश्चन्द्र से नर न कभी प्रण से हिलते।

हरिश्चन्द्र की कृति, मति, वाणी नही सत्य से खाली है,
तिल मे तेल, दुग्ध मे घृत की व्याप्ति समझने वाली है।

देवलोक में सत्य नहीं है, मृत्यु लोक में सुन्दर है;
हरिश्चन्द्र को करे ब्रह्मा देव कठोर निरादर है।
आदि काल से हम देवों का मानव दास कहाया है
किन्तु इन्द्र ने आज उसे ही कितना शीश चढ़ाया है ?

'हरिश्चन्द्र तो सत्यमूर्ति है नहीं मनुज वह साधारण,
देवों की सम्मान-हानि का इसमें प्रभु है क्या कारण ?'

"बुद्धि भ्रष्ट हो तुम सब तुम को पता नहीं है गौरव का
आज इन्द्र की बातों में धिक्कार भरा है रौरव का !

हरिश्चन्द्र क्या देव बन गया आखिर अब भी मानव है
अभी दिखाता हूँ मैं जाकर कहाँ सत्य का ताण्डव है ?
और देव हैं मूर्ख नपुंसक नहीं किसी में कुछ साहस,
पाते हैं दिन रात भर्त्सना तदपि न जगता भैरव रस !
किन्तु धरा भी जन्मभूमि का मैं अपमान न सह सकता
हरिश्चन्द्र हो या कोई हो क्षमा नहीं मैं कर सकता !

पति की कुटिल वृत्ति से परिचित मौन हुई देवी सारी
"नाथ आपकी इच्छा पर है आप स्वयं सम्मति धारी !"

'मेरे साथ तुम्हें भी वसुधा-मण्डल पर चलना होगा'
जैसे भी हो हरिश्चन्द्र को सत्य भ्रष्ट करना होगा !

"कैसा है यह इन्द्र ? अन्न के कीट मनुज का दास बना,
देवजाति से घृणा, अस्थि के पुतले से है स्नेह सना !
हरिश्चन्द्र का सत्य अटल है, फिर भी मानव, मानव है,
विचलित होते देर न लगती संकट मे सब सभव है।
अभी अयोध्या नगरी जाकर हरिश्चन्द्र को देखूंगा,
पतित सत्य से कर, सुर पति को पल मे लज्जित कर दूंगा।"

क्रुद्ध, क्षुब्ध हो जलता भुनता अपने मन्दिर मे आया,
देख मुखाकृति विकट अप्सराओ का मन भी घबराया।

"नाथ, आज क्या कारण है ? हां, किस पर इतना कोप किया ?
घृणा हुई जीवन से किसको सुप्त सिंह जो छेड लिया।"

"आज सभा मे प्राणवल्लभा तुम भी तो पहुँची होगी ?
हरिश्चन्द्र की महिमा भी तो सुरपति-विहित सुनी होगी ?

"सुनी क्यो न ? हैं इन्द्र हमारे सत्य धर्म के अनुरागी,
स्वर्गलोक है ऐसा स्वामी पाकर अति ही वड भागी !"

"तुम न समझती ' "समझा दीजे, इसमे भी क्या दूषण है ?
जिस पर स्वामी क्रुद्ध हुए हैं, घटना वडी विलक्षण है।"

"आज इन्द्र ने देव जाति को किया भयकर अपमानित,
अन्नकीट, फिर उसका इतना गौरव, यह कितना अनुचित।

देवलोक में सत्य नहीं है मृत्यु लोक मे सुन्दर है
हरिश्चन्द्र की करे वन्दना देव कठोर निरादर है।
आदि काल से हम देवों का मानव दास कहाया है
किन्तु इन्द्र ने आज उसे ही कितना शीश चढ़ाया है ?

'हरिश्चन्द्र तो सत्यमूर्ति है नहीं मनुज वह साधारण,
देवों की सम्मान-हानि का इसमें प्रभु है क्या कारण ?'

'बुद्धि भ्रष्ट हो तुम सब तुम को पता नहीं है गौरव का
आज इन्द्र की बातो में धिक्कार भरा है रौरव का!

हरिश्चन्द्र क्या देव बन गया आखिर अब भी मानव है
अभी दिखाता हूँ मैं जाकर कहाँ सत्य का ताण्डव है ?
और देव हैं मूर्ख सभी तक नहीं किसी में कुछ साहस,
पाते हैं दिन रात भर्त्सना तदपि न जगता भैरव रस!
किन्तु जरा भी जन्मभूमि का मै अपमान न सह सकता
हरिश्चन्द्र हो या कोई हो क्षमा नहीं मैं कर सकता!

पति की कुटिल वृत्ति से परिचित मौन हुई देवी सारी
"नाथ आपकी इच्छा पर है आप स्वयं सम्मति धारी।

मेरे साथ तुम्हे भी वसुधा-मण्डल पर चलना होगा
कैसे भी हो हरिश्चन्द्र को सत्य भ्रष्ट करना होगा।

भय से, छल से, उत्पीडन से, अथवा किसी प्रलोभन से,
हरिश्चन्द्र को डिगा, स्वर्ग की लाज रखो तन से, मन से।"

दीन अप्सरायें भी पति के साथ चली मन को मारे;
ऊपर से कुछ बोल न सकती, दिल मे जलते अगारे।

स्वार्थ सिद्धि हो, तदपि न सज्जन पाप पक मे फँसता है;
साधारण जन स्वार्थ-पूर्ति के लिये विवश हो धँसता है।
पर, दुर्जन की कुछ मत पूछो, विना प्रयोजन ही पापी,
पाप गर्त में हँस-हँस गिरता, कैसा जीवन अभिशापी।

आज पाठको, सज्जन दुर्जन में सघर्पण छिडता है,
जरा ठहरिये, दृश्य देखिये, क्या परिणाम निकलता है?

विश्वामित्र

ऋषिवर विश्वामित्रजी फँसे खीज में व्यर्थ !
अनुचित कोपावेश से होते क्या न अनर्थ ?

पुरी अयोध्या से किंचित-सा दूर विपिन में 'सिद्धाश्रम'
ऋषिवर विश्वामित्र साधना उग्र साधते इन्द्रिय-दम !
वातावरण शान्त है सुन्दर शोभा अधिक निराली है,
मुनि-पालित तरुलता-वृन्द पर क्या मोहक हरियाली है !

अभिमानी वह देव अप्सरा-सम मही पर चल आया
आम्र-वृक्ष के नीचे बैठा मन में मत्सर-तम छाया !

'हरिश्चन्द्र को मैं किस विधि से सत्य धर्म से पतित करूँ ?
कैसे देवराज के मन की धर्म-कल्पना दलित करूँ ?
हरिश्चन्द्र-सा वर्चस्वी क्या सुर-बाला से मोहित हो !
सन्तोषामृत पीने वाला नहीं प्रलोभन चलित हो।

भय से, छल से, उत्पीडन से, अथवा किसी प्रलोभन से,
हरिश्चन्द्र को डिगा, स्वर्ग की लाज रखो तन से, मन से।"

दीन अप्सरायें भी पति के साथ चली मन को मारे,
ऊपर से कुछ बोल न सकती, दिल मे जलते अगारे।

स्वार्थ सिद्धि हो, तदपि न सज्जन पाप पक में फँसता है;
साधारण जन स्वार्थ-पूर्ति के लिये विवश हो धँसता है।
पर, दुर्जन की कुछ मत पूछो, बिना प्रयोजन ही पापी,
पाप गर्त में हँस-हँस गिरता, कैसा जीवन अभिशापी।

आज पाठको, सज्जन दुर्जन में सघर्षण छिड़ता है,
जरा ठहरिये, दृश्य देखिये, क्या परिणाम निकलता है?

विश्वामित्र-कोप से परिचित डरी अप्सराएँ मन में;
किन्तु क्रुद्ध पति की आज्ञा पा घुसी सशंकित-सी वन मे !

पुष्प वाटिका से चुन-चुन कर फूल तोड़ती जाती है;
भ्रमर-वृन्द को मन्द हास्य के साथ उड़ाती जाती है !
पति की आज्ञा में रम जाता किन्तु न मन है विश्वासी;
दुनिया की मक्कारी से है दिल मे उथल-पुथल खासी !

गीत

यह दुनिया दुरंगी किधर जा रही है ?
पतन के गर्त मे गिरी जा रही है !
घृणा द्वेष का दौर चहुँ ओर छाया;
भलाई के बदले बुरा चाह रही है !
किसी को न सत्कर्म का ध्यान आता;
घटा पाप की ओर से छा रही है !
दिखा जाल छल-छन्द का हठ कैसा
सचाई उभरने नही पा रही है !
बड़ी मौज करते हैं दुर्जन 'भ्रमर' अब
विपद सज्जनो पै गजब ढा रही है ।

स्वाध्यायन निरत शिष्यो ने देखा तो अति अकुलाये;
आश्रम का अपमान देख कर द्रुत गति से दौड़े आये !

अगर कष्ट दूँ, इन्द्र कुपित हो, वडी समस्या अडती है,
क्या कुछ करू, बुद्धि के पथ मे समझ नही कुछ पडती है।"

आखिर चिन्तन करत-करते मार्ग एक स्मृति-पथ आया;
उदासीन मुख पर आशा का हर्षोन्माद झलक आया।

"ऋषिवर विश्वामित्र कोप के कारण है जग मे विश्रुत;
हरिश्चन्द्र से इन्हे भिडा दूँ, काम वने कैसा अद्भुत ?
फूल चुनें सुर बालाये, ऋषिराज क्रुद्ध हो जाएँगे;
बन्धन मे डालेंगे देवी, भस्म नही कर पाएँगे।
हरिश्चन्द्र आकर बन्धन से मुक्ति दिला देगा ज्योही;
ऋषिवर क्या है भूत भयकर, चिपट जायगा झट त्योही।"

लगा अप्सराओ से कहने—"चुनो फूल जा आश्रम मे,
ध्वस्त बना दो पुष्प वाटिका, करो विलंब न विक्रम मे।
विधि अनुकूल हुआ है कैसा अभी काय बन जाता है,
हरिश्चन्द्र औ' गाधितनय मे द्वन्द्व युद्ध ठन जाता है।

विश्वामित्र-कोप से प्यारी जरा नही दिल मे डरना,
जो कुछ भी दें दण्ड शान्ति के साथ सहन सब कुछ करना।
हरिश्चन्द्र तुम सब को आकर बन्धन-मुक्त {बना देगा,
विश्वामित्र-कोप को पागल अपने शीश स्वय लेगा।"

विश्वामित्र क्रोध से परिचित डरी अप्सराएँ मन में,
किन्तु क्रुद्ध पति की आज्ञा पा पुसी सशंकित-सी वन में !

पुष्प वाटिका से चुन-चुन कर फूल तोड़ती जाती है,
भ्रमर-वृन्द को मन्द हास्य के साथ उड़ाती जाती है !
पति की आज्ञा में तन चलता किन्तु न मन है विश्वासी,
दुनिया की मक्कारी से है दिल में उथल-पुथल खासी !

गीत

यह दुनिया दुरंगी किधर जा रही है ?
पतन के गढ़े मे गिरी जा रही है !
घृणा द्वेष का दौर चहुँ ओर छाया,
भलाई के बदले बुरा चाह रही है !
किसी को न सत्कर्म का ध्यान आता,
घटा पाप की ओर से छा रही है !
लिखा जाल छल-छन्द का हंत कैसा-
सचाई उभरने नहीं पा रही है !
बड़ी मौज करते है दुर्जन 'अमर' अब
विपत सज्जना पे गजब ढा रही है ।

स्वाध्ययन-निरत शिष्यों ने देखा तो अति अकुलाये,
आश्रम का अपमान देख कर द्रुत गति से दौड़े आये !

"यह तुम क्या करती हो, आश्रम मर्यादा का ध्यान नही;
पुष्प तोडने को न मिला क्या और कही भी स्थान नही?"
"कैसा आश्रम? कौन यहाँ तुम स्वत्व जमाने वाले हो?
क्रीडा करती है स्वतन्त्र हम, कौन रोकने वाले हो?"

"कौन आप, जो नही जानती इस आश्रम की गरिमा को,
मुनिवर विश्वामित्र महत्तम, जान रहे सब महिमा को।"

"होगा कोई, हमे पता क्या? हटो, फूल हम तोडेंगी,
पूजा हित आराध्य देव की, पुष्पहार हम जोडेंगी।"

हँसी उडाने लगी, विचारे शिष्य बडे ही सकुचाये,
समाधिस्थ गुरुवर ढिग जाकर जोर-जोर से चिल्लाये।

ध्यान खोल कर ऋषि ने ज्यो ही कथा सुनी अथ से सारी,
आये क्रुद्ध क्षुब्ध हो त्यो ही, उपवन-मध्य परशु-धारी।
क्रोधित होकर कहा अप्सराओं से—"यह क्या करती हो?
सिद्धाश्रम की मर्यादा का कुछ भी मान न करती हो।

नही जानती, यह आश्रम है विश्वामित्र मुनीश्वर का,
आज कोप से जिसके कम्पित, बल-विक्रम संसृति-भर का।
अबला तुमको जान क्षमा करता हूँ शीघ्र चली जाओ,
व्यर्थ कोप मे पड कर मेरे क्यो असीम संकट पाओ।"

एक बार तो देख क्षुब्ध मुनि, सभी अप्सरा घबराई,
पति आज्ञा-वश किन्तु दूसरे क्षण मे ही सब गरमाई।

'कौन आप हैं ? हमें रोकने वाले बस चुप रहियेगा,
जो कुछ करना करें खुशी से व्यर्थ न मुख से कहियेगा !
साधू होकर भी ममता का पाश नहीं मन से छूटा,
घर ही रहते तो अच्छा था मोह न उपवन का टूटा !
मुनि बन कर हम सुन्दरियों से क्या बातें करने आये,
जाओ अपना काम करो क्या आते भी ना शरमाये।

रूप-माधुरी-मत्त अप्सरा मुनि को लज्जित करती हैं,
नाभि-विलम्बित श्वेत-कूर्चिका देख देखकर हँसती है !
कौशिक ऋषि के क्रोधानल की ज्वाला बड़ी उग्र भड़की,
एक बार ज्यों गगनाङ्गण में घन-घात विद्युत हो कड़की !
तपस्तेज से देवयोनि के कारण भस्म न हो पाईं,
शाप-ध्वनि प्रगटी तब सहसा शान्त प्रकृति भी थर्राई !
"जिन हाथों से दुष्टाओ, यह तुमने उपवन नष्ट किया,
चारु वल्लरी फूल और फल तोड़े आश्रम भ्रष्ट किया !
वे कुत्सित कर लतिकाओं से तप प्रभाव से बँध जाएँ,
जीवन की अन्तिम घड़ियों तक बँधे-बँधे ही सड़ जाएँ !
तपश्चरण की प्रबल शक्ति है देव शक्ति भी अवनत हो,
तपोधनों का शाप और वरदान न निष्फल प्रतिहत हो !
दिव्य शक्ति-सम्पन्न अप्सराओं की तनिक न शक्ति चली
कोमल कर-पल्लव बेलों से बँधे गर्व-गरिमा निकली !

"यह तुम क्या करती हो, आश्रम मर्यादा का ध्यान नही,
पुष्प तोडने को न मिला क्या और कही भी स्थान नही ?"
"कैसा आश्रम ? कौन यहाँ तुम स्वत्व जमाने वाले हो ?
क्रीडा करती है स्वतन्त्र हम, कौन रोकने वाले हो ?"

"कौन आप, जो नही जानती इस आश्रम की गरिमा को,
मुनिवर विश्वामित्र महत्तम, जान रहे सब महिमा को !"

"होगा कोई, हमे पता क्या ? हटो, फूल हम तोडेगी,
पूजा हित आराध्य देव की, पुष्पहार हम जोडेगी !"

हँसी उडाने लगी, विचारे शिष्य बडे ही सकुचाये,
समाधिस्थ गुरुवर ढिग जाकर जोर-जोर से चिल्लाये !

ध्यान खोल कर ऋषि ने ज्यो ही कथा सुनी अथ से सारी,
आये क्रुद्ध क्षुब्ध हो त्यो ही, उपवन-मध्य परशु-धारी।

क्रोधित होकर कहा अप्सराओं से—"यह क्या करती हो ?
सिद्धाश्रम की मर्यादा का कुछ भी मान न करती हो।

नही जानती, यह आश्रम है विश्वामित्र मुनीश्वर का,
आज कोप से जिसके कम्पित, बल-विक्रम ससृति-भर का।
अबला तुमको जान क्षमा करता हूँ शीघ्र चली जाओ,
व्यर्थ कोप मे पड कर मेरे क्यो असीम सकट पाओ !"

एक बार तो देख क्षुब्ध मुनि, सभी अप्सरा घबराई,
पति आज्ञा-वश किन्तु दूसरे क्षण मे ही सब गरमाई।

बन्धन-मुक्ति

तप-बल से भी सत्य का बल है अपरंपार,
हरिश्चन्द्र के सत्य की अब सुनिए झनकार।

सहस्राधिक वर्षों का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करता हूँ
सत्यकीर्ति के द्वारा कलिमल दूर मन स्थित करता हूँ।
हरिश्चन्द्र नृप पुण्य-बल से ऋषभदेव के वंशज हैं,
राजनीति के नवयुग में भी उसी प्रभु के अंगज हैं।
राजा हैं पर किसी तरह का व्यसन नहीं है जीवन में,
भूल गए हैं अन्य वृत्तियाँ सत्य-वृत्ति के पालन में।
वह भी था क्या समय प्रजा का हित राजा नित करते थे,
स्वयं कष्ट सहते थे लेकिन दुःख प्रजा का हरते थे।
राज्य-कार्य से जब भी पाते समय भ्रमण को चल देते,
दीन दुःखी से मिलते आँखों व्यथा प्रजा की लख लेते।
सर्व-पूज्य करुणानिधि नृप के प्रजा सरल दर्शन पाकर,
हर्षित होती गर्वित होती मग्न हो जाती 'जय' गाकर।

बन्धन-मोचन-हेतु उपक्रम किये अनेक, न सफल हुई,
लगी तडपने, हरिणी सम वे भयाक्रान्त हो विकल हुई ।

बद्ध देख कर गर्वमत्त ऋषि गर्ज उठे जैसे जलधर
"देख लिया, मै कौन ? शक्ति क्या मेरी है जग-प्रलयङ्कर ।
तुमने तो समझा था, क्या कर सकता है यह भिखमगा;
अब निज करणी का फल भुगतो व्यर्थ मचाया क्यो दगा ?
बन्धन तो क्या दण्ड ? तुम्हे मैं भस्म अभी कर सकता हूँ,
अबला किन्तु समझ, निज करुणा-भङ्ग नही कर सकता हूँ ।"

अबलाओ की क्रन्दन-ध्वनि पर तरस नही कुछ भी आया,
देख सफलता निज तप बल की गर्व अमित मन में छाया ।

राज-मुकुट, धन-कचन तजना सहज, न कुछ भी जोर लगे,
किन्तु मान-अपमान द्वन्द्व मे त्याग-विराग तुरन्त भगे ।

कोप और अभिमान उभय ने मुनिपद का शमरस लूटा,
अन्तर में चिररुद्ध राजसी-वृत्ति स्रोत सहसा फूटा ।

गर्जन तर्जन करते वापस लौट गये मुनि आश्रम मे,
क्या समाधि फिर लगनी थी, फँस गये विकल्पो के भ्रम में ।

बन्धन-मुक्ति

तप-बल से भी सत्य का बल है अपरंपार,
हरिश्चन्द्र के सत्य की अब सुनिए झनकार!

लक्षाधिक वर्षों का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करता हूँ,
सत्यकीर्ति के द्वारा अभिमत पूर, मन स्थिर करता हूँ।
हरिश्चन्द्र नृप पुण्य-वंश से सूर्यवंश के भूषण हैं,
राजनीति के सद्गुण में भी उसी प्रभु के प्रत्यक्ष हैं।
राजा हैं पर किसी तरह का व्यसन नहीं है जीवन में,
भूल गए हैं अन्य वृत्तियाँ सत्य-वृत्ति के पालन में।
वह भी था क्या समय प्रजा का हित राजा नित करते थे,
स्वयं कष्ट सहते थे लेकिन दुख प्रजा का हरते थे।
राज्य-कार्य से जब भी पाते समय भ्रमण को चल देते,
दीन दुखी से मिलते, आँखों दशा प्रजा की लख लेते।
गर्व-शून्य करुणानिधि नृप के प्रजा सरल दर्शन पाकर,
हर्षित होती गर्वित होती नभ गुंजाती 'जय' गाकर।

आज कलियुगी भूप सत्य की दुनिया का सत्पथ भूले,
उदासीन गत आदर्शो से विषय वासना मे झूले।
न्यायालय मे दमन चक्र का राज्य निरन्तर चलता है,
नित नव शोषण द्वारा वैभव पाकर चित्त मचलता है।
दफ्तर की दुनिया है, कागज कलम घिसाये जाते हैं,
अन्धकार बढता जाता है, पग-पग ठोकर खाते हैं।
रग महल मे सुरा सुन्दरी का चहुँ दिश फैला विभ्रम,
सूर्य-चन्द्र मे गुरुवशो का होता क्षय प्रतिपल विक्रम।
आज भ्रमण है निरपराध पशु-पक्षी-गण की हत्या का,
क्षण भर की मन मौज, अमगल रूप धरा है कृत्या का।
मोटर, यान, पवन की गति से इधर-उधर दौडे फिरते,
दीन प्रजा के बालक-बूढे प्रतिदिन कितने दब मरते।
अगर आज भारत के राजा उसी पुरातन पथ चलते,
मातृभूमि को नही देखने, ये दुर्भर दुर्दिन मिलते।

अल, चल पडे किस तम पथ पर हरिश्चन्द्र की ओर चलो,
पाकर अमित प्रकाश सत्य का दुराचरण को दलो-मलो।

राजकार्य से निबट, नित्य की भाँति, भूप पुर से निकले,
वन यात्रा के लिए अश्व पै चढ लहरो के सम उछले।

वन मे बद्ध अप्सराओ का पति सेवक का रूप धरे,
आकर मिला नृपति से फलत सिद्धाश्रम की ओर ढरे।

यह अप्सराओं ने ज्योंही सुना दूर से जय-जय कार;
देखा ध्वनि-पथ ओर शीघ्र ही भयकातर निज आँख पसार।
मानव-गण-परिवेष्टित अश्वारोही नयनों में आया;
हरिश्चन्द्र के दर्शन पाकर मोद अमित मन में पाया।

'पाप वृत्ति के पड़ी फेर में किन्तु भाग्य रेखा जागी;
इसी बहाने हरिश्चन्द्र के दर्शन पाए बड़ भागी।
संभव है इस ओर न आवें, कहीं और ही टल जाएँ;
बस फिर हम तो तीन काल में बन्धन-मुक्त न हो पाएँ।
सभी अप्सरा दीन भाव से लगी विकल रोदन करने;
रोदन सुनते ही नृप-मन में बहे दया के स्रोत झरने।
आज्ञा पाते ही सेवक गण पता लगा झटपट धाएँ;
सिद्धाश्रम में चार षोडशी लताबद्ध मन कलपाएँ।"

तत्क्षण आश्रम में चल आए, लगे देवियों से कहने;
किस कारण कब किसने बाँधा पड़े घोर संकट सहने।
"नाथ! अप्सरा हम उपवन में क्रीड़ा करने आई थीं;
पुष्प-सुगन्धित तोड़ लिए कुछ मन में नहीं बुराई थी।
इतना-सा अपराध और यह दण्ड भयंकर सह लीजे;
विश्वामित्र क्रोध के वशवर्ती हैं, दोष किसे दीजे?'

"ऋषि-आश्रम में तुम्हें उपद्रव कभी न करना चाहिए था;
क्या गौरव है तपोधनों का तुम्हें समझना चाहिए था।

तुमने गुरु अपराध किया है, किन्तु दण्ड उससे गुरु-तर,
मुनिजन तो अपराधी पर भी रहते हैं करुणा-मृदु-तर।"

"हाथ जोडकर श्री चरणो मे विनय, प्रभो! करुणा कीजे,
जीवन-भर गुण गाएँगी हम, मुक्त पाश से कर दीजे।"

"अभी छुडा देता हूँ तुमको, मन मे खेद न करिएगा।"
पर, भविष्य मे कभी किसी आश्रम मे विघ्न न करिएगा।"

"आज आपके सम्मुख दिन-कर साक्षी से प्रण करती हैं,
भग न होगा आश्रम गौरव, उत्पीडन मे डरती हैं।"

हरिश्चन्द्र ने सत्य स्मरण कर हाथ लगाया जैसे ही,
मुक्त अप्सरा सभी होगई, पलक मारते वैसे ही।

गगनाङ्गण में उडी अप्सरा हर्षमत्त 'जय-रव' करती;
हरिश्चन्द्र पर चारु सुगन्धित फूलो की वर्षा करती।

गीत

लग गई, लग गई, लग गई हो,—
प्रीति लग गई आज सत्य से।

पूर्व-पुण्य से शुभ दिन आया,
सत्य-मूर्ति का दर्शन पाया,
दिल की कलियाँ खिल गई हो।

सच का बल है अपर-पारा,
ऋषि के तप का बल भी हारा,
शाप की बेडी कट गई हो।

पर-दुख भंजन पर—उपकारी,
मतिमान करुणा-अवतारी,
प्रेम की दुनिया बस गई हो।
कैसा है सुन्दर मुख—मण्डल
झलक रहा है तेज अखंडल,
पाप-वृत्तियाँ डर गई हो।
अमर सत्य पर अचल रहेंगे
निश्चित है पति विफल रहेंगे,
सत्य की झाँकी मिल गई हो।

पाठक कलियुग की बातों का असर न मन में अणु लाए,
पूर्व युगों के महासत्य की ओर दृष्टि को दौड़ाए।
कितनी महिमा प्रबल सत्य की तप-बल भी निष्फल हुआ,
आज पराजित एक गृही के आगे एक विरक्त हुआ।
तप जितना मुनि चाहे कर ले किन्तु क्रोध यदि शान्त न हो
उससे गृही प्रशंसित है, जो तन-मन सत्यपरायण हो।
हरिश्चन्द्र कर भ्रमण कर लौट फिर अपने महलों में आए,
वन-घटना को भूल गए थे स्वप्न नहीं मन में लाए।

तुमने गुरु अपराध किया है, किन्तु दण्ड उससे गुरु-तर,
मुनिजन तो अपराधी पर भी रहते हैं करुणा-मृदु-तर।"

"हाथ जोडकर श्री चरणो मे विनय, प्रभो! करुणा कीजे,
जीवन-भर गुण गाएँगी हम, मुक्त पाश से कर दीजे।"

"अभी छुडा देता हूँ तुमको, मन मे खेद न करिएगा।"
पर, भविष्य मे कभी किसी आश्रम मे विघ्न न करिएगा।"

"आज आपके सम्मुख दिन-कर साक्षी से प्रण करती हैं,
भग न होगा आश्रम गौरव, उत्पीडन से डरती हैं।"

हरिश्चन्द्र ने सत्य स्मरण कर हाथ लगाया जैसे ही,
मुक्त अप्सरा सभी होगईं, पलक मारते वैसे ही।

गगनाङ्गण मे उडी अप्सरा हर्षमत्त 'जय-रव' करती;
हरिश्चन्द्र पर चारु सुगन्धित फूलो की वर्षा करती।

गीत

लग गई, लग गई, लग गई हो,—
प्रीति लग गई आज सत्य से।

पूर्व-पुण्य से शुभ दिन आया,
सत्य-मूर्ति का दर्शन पाया,
दिल की कलियाँ खिल गई हो।

मच का बन है अपर-पारा,
ऋषि के तप का बल भी हारा,
शाप की बेडी कट गई हो।

इनके पति अब दीन दुखी-से अनुनय करते आएँगे,
भी चरणों की धूलि चाट निज पत्नी मुक्त कराएँगे।

कौशिक ऋषि यों मन-कल्पना-नभ में उड़ते जाते हैं,
इतने में आ शिष्य कल्पनाओं पर वज्र गिराते हैं।

भगवन्! वह देविमाँ होकर मुक्त स्वर्ग को चली गई"
सुनते ही कौशिक मुनि की भी बुद्धि चेतना दली गई।

"विस्मय है अति ही विस्मय है, मुग्ध' अरे क्या सत्य कहा?
क्या मेरे तप में इतना भी आज नहीं सामर्थ्य रहा!
यदि ऐसा होना तो पहले बन्धन में बँधती ही क्या?
एक बार जब बद्ध हुई तो पुन स्वयं छुटती ही क्या?
अरे कहो क्या स्वयं पापिनी मेरे बन्धन से छूटी?
अथवा कोई अन्य विमोचक है, जिसकी किस्मत फूटी।"

"आप बाँध कर आए उसके कुछ ही देर बाद राजा—
हरिश्चन्द्र भी आए, सेने स्वच्छ हुआ वन की ताजा।
कौशल-पति को देख पुकारी दयामूर्ति झट-पट आए,
हाथ लगाते ही बन्धन के टूटे चिह्न नहीं पाए।

शिष्या की सुन बात क्रोध का सागर दुगुना लहराया,
क्षुब्ध हृदय में कुविचारों का अतिभीषण अंधड़ आया।

विश्वामित्र का कोप

क्रोध भयकर शत्रु है, करता जीवन नष्ट,
धर्म, कर्म, तप, योग से मानव होता भ्रष्ट ।

कौशिक ऋषि आश्रम-कुटीर में ध्यान समाधि लगाते है,
किन्तु कोप से कम्पित चचल चित्त न वश कर पाते हैं ।
रह-रह कर वह दृश्य क्लेश का चक्कर काट रहा मन मे,
कोपानल की ज्वालाओ का दाह दहकता है तन मे ।
दीप-शलाका-तुल्य क्रोध है, नहीं शान्ति रह पाती है,
औरो को जब भस्म करे तो स्वयं भस्म हो जाती है ।

मुनिवर सोच रहे थे—"मेरा कैसा है दुर्दम तप-बल;
पल-भर में ही बँधी अप्सरा, भूल गई देवी छल बल ।
त्रिभुवन मे अब कोई भी जन मुक्त नही कर सकता है,
कर सकता है, मुक्त अगर तो कौशिक ही कर सकता है ।

विश्वामित्र का कोप

क्रोध भयंकर शत्रु है, करता जीवन नष्ट,
धर्म, कर्म, तप, योग से मानव होता भ्रष्ट।

कौशिक ऋषि आश्रम-कुटीर मे ध्यान समाधि लगाते हैं,
किन्तु कोप मे कम्पित चचल चित्त न वश कर पाते है।
रह-रह कर वह दृश्य क्लेश का चक्कर काट रहा मन मे,
कोपानल की ज्वालाओ का दाह दहकता है तन मे।
दीप-शलाका-तुल्य क्रोध है, नहीं शान्ति रह पाती है,
औरो को जब भस्म करे तो स्वय भस्म हो जाती है।

मुनिवर सोच रहे थे—'मेरा कैसा है दुर्दम तप-बल;
पल-भर मे ही बँधी अप्सरा, भूल गई दैवी छल बल।
त्रिभुवन मे अब कोई भी जन मुक्त नही कर सकता है,
कर सकता है, मुक्त अगर तो कौशिक ही कर सकता है।

इनके पति अब दीन दुखी-से अनुनय करने आएँगे,
मैं चरणों की धूलि चाट निज पत्नी मुक्त कराएँगे।

कौशिक ऋषि यों मन-कल्पना-नभ में उड़ते जाते हैं;
इतने में आ शिष्य कल्पनाओं पर वज्र गिराते हैं।

भगवन्! वह देवियाँ होकर मुक्त स्वर्ग को चली गई'
सुनते ही कौशिक मुनि की भी बुद्धि चेतना चली गई।

"विस्मय है अति ही विस्मय है, मुक्त-अरे क्या सत्य कहा?
क्या मेरे तप में इतना भी आज नहीं सामर्थ्य रहा!
यदि ऐसा होता तो पहले बन्धन में बँधती ही क्यों?
एक बार जब वह हुई तो पुनः स्वयं छुटती ही क्यों?
अरे कहो क्या स्वयं पापिनी मेरे बन्धन से छूटी?
अथवा कोई अन्य विमोचक है, जिसकी किस्मत फूटी।"

"आप बाँध कर आए उसके कुछ ही देर बाद राजा—
हरिश्चन्द्र जी आए, सेन स्वच्छ हुआ मन की ताजा।
कौशल-पति को देख पुकारी क्यामूर्ति झट-पट आए,
हाथ लगाते ही बन्धन के टूटे चिह्न नहीं पाए।

मिथ्या की सुन बात क्रोध का सागर दुगुना लहराया,
क्षुब्ध हृदय में कुविचारों का अतिभीषण अंधड़ आया।

गीत

आज जालिम नास्तिकता मे भर गया मगरूर क्या?
पाप-मन का सबके मन पै छा गया अंधकार क्या?
आश्रमो का नष्ट होना जा रहा गौरव सभी;
भूल बैठे शुद्ध ऋषियों की विराट हुंकार क्या?
यह हरीचंद दास चरणो का, निगड कैसे गया?
मुझको, मेरे तप को भूला क्या? हुआ कुविचार क्या?
मैं वह कौशिक हूँ कि जिसका विश्व पर आतंक है,
मेरे आगे मान्य ऋषियो ने न पाई हार क्या?
आके करुणा के नशे मे अप्सराएं मोल दी,
मै तो जालिम नीच, निर्दय, तू दया भंडार क्या?
चूर्ण कर दूं गर न तेरा गर्व तो धिक है 'अमर'
मैं हूँ विश्वामित्र तूने समझा है मुर्दार क्या?

रहे भडकते सारी रजनी, नहीं तनिक निद्रा आई;
"कब प्रभात हो, चलूं सभा मे, करूं भर्त्सना मन-भाई।"

पाठक! क्रोध-क्षमा का, करुणा हिंसा का अन्तर देखा,
ऋषि होकर भी नही पा रहे अणु भर भी समता-रेखा।
बांधा क्या सुर बालाओ को स्वयं आप ही बँध बैठे,
जब से बांधा है तब से ही चिन्ता के सागर पैठे।

उधर सत्य के धनी कौशलाधीश शान्त करुणा-सागर;
मुक्त किया तो मुक्त-हृदय है, नहीं प्रभावित उन्हें तिलभर।
वह उपकार दृष्टि में उनकी क्या महत्व कुछ रखता था?
भूल गए वह दृश्य रात्रि भर सोये मन न मचलता था!

सज्जन कर उपकार किसी पर नहीं याद मन में लाते;
मात्र निमित्त समझते खुद को मार्ग उसी का बतलाते।
वही श्रेष्ठ है एक भलाई, जिसमें गर्व नहीं होता;
अहंकार से मलिन कर्म तो बीज पाप का ही बोता।

वन में पुर में एक साथ ही सुप्रभात विकसित आया
किन्तु घोर वैषम्य उभयतः कैसी है विधि की माया!

न्यायालय में

जीवन में कर्तव्य का जो रखता है ध्यान;
वह गौरव है विश्व का, पाता जग-सम्मान।

भूपति निज नियमानुसार सब नित्य कर्म से निबट गए;
सूर्योदय होते ही न्यायासन पर आ आसीन हुए।
ठीक समय पर अधिकारी भी निज-निज आसन पर आए,
नृप यदि कर्मठ न्याय निरत हो, फिर क्या गडबड हो पाए।
न्यायासन पर बैठ न्याय करने में वे संलग्न हुए,
योगी-जैसे योग-साधना के साधन में मग्न हुए।

न्याय, योग दोनों ही मन का साम्य रूप अपनाते हैं,
चञ्चल मन होने पर दोनों कार्य नष्ट हो जाते हैं।
योगी जैसे प्राणिमात्र को अपने तुल्य समझता है,
शासक भी पर के सुख-दुख का भान हृदय में करता है।

एक-एक अभियोग प्रजा का बड़ी शान्ति से निबटाते
वादी प्रतिवादी दोनों ही खुश हो जय जयस गाते।
अपराधी तक सुप्रसन्न है स-क्षति दण्डित होकर भी,
राजा के प्रति रोष नहीं है, अपनी इज्जत खोकर भी।
शासक नृप जब हृदय पिता का क्षमा नियंत्रण करता है
उभय पक्ष के स्वच्छ हृदय मे प्रेम हिलोरें भरता है।

हाँ तो इधर न्याय का शासन उधर विपिन मे भी श्रमिए,
सूर्योदय होते ही कौशिक चले शिष्य-गण साथ लिए।

पुरी अयोध्या का बरदा पथ आज प्रतीप विकम्पित है,
आस-पास दर्शक जनता का मन भी अति ही चिंतित है।
एक विकट तूफान उठा सा आता है मुनिवर क्या है ?
होठ कँपाते दाँत पीसते हुए स्वयं यम भी क्या है ?
देख क्रुद्ध कौशिक को आकुल व्याकुल हैं सब नरनारी,
कौन काल के गाल पड़ा है किस पर वक्र दृष्टि डारी।

एक देव है मानव जिसके मिलने से मन प्रमुदित हो,
एक क्रूर दानव है मानव देख जिन्हे सब दुःखित हो।
सज्जन-दुर्जन दोनो जग मे भिन्न प्रकृति के हैं स्वामी,
एक जनक है क्रमश: एक है जोंक रक्त का अनुगामी।

सर्प और दुमुही दोनो ही एक जाति के प्राणी हैं,
किन्तु प्रकृति म महदन्तर है सभी जानते ज्ञानी है।

सर्प क्रुद्ध हो डस लेता है प्राणो का होता ग्राहक,
अत सभी जन देख भयाकुल होकर बन जाते मारक।
किन्तु शान्त है दुमुही कैसी, नही किसी को कुछ कहती
खुश होते हैं घर वाले सब, जिनके घर मे आ रहती।
मगल शकुन समझ कर पूजा करते देखे नर नारी,
उधर सर्प की दुर्गति भी देखी है, निदय दुख भारी।
कोई पाता तिरस्कार तो कोई पाता आदर है,
दोप नही है अन्य किसी का स्वय प्रकृति पर निर्भर है।

न्याय-सभा के द्वार देश पर द्वार-पाल से बतलाए;
अपने मन के भाव क्रोध की भापा मे ही समझाए।

द्वार-पाल ने अन्दर जाकर कहा नृपति से—'हे प्रभुवर।
खडे द्वार पर कौशिक ऋपिवर न्याय कराने की खातिर।"

राजा स्तम्भित ! विस्मित !! "ऋपि क्या न्याय कराने आए है,
ऋषियो को तो न्यायालय के द्वार निपिद्ध बताए हैं।
मेरे योग्य कार्य था यदि तो मुझे वही बुलवा लेते,
स्वय सभा मे आते ऋषिवर कभी नही शोभा देते।"
द्वार-पाल से कहा—"प्रतिष्ठा पूर्वक उनको ले आओ;
सन्त किसी भी धर्म-वेष के हो सबकी महिमा गाओ।"

कौशिक ज्यो हो न्यायालय मे मस्त झूमते से आए,
सभा सहित नृप खडे हुए, नत-मस्तक सादर गुण गाए।

सिंहासन से लगे उतरने तो कौशिक कर्कश बोले,
धधक रहे थे लगे बरसने वचन रूप बम के गोले!

"राजन्! तुमने दे यह आदर, सिंहासन पर ही ठहरे,
गमक डाल कर स्वर्ण कलश पर, उठा रहे कुल की लहरें!
पूजा आदर की अभिलाषा लिए नहीं मैं आया हूँ,
राजा तुम हो न्यायासन से न्याय माँगने आया हूँ!

क्रोध-गर्जना सुन कौशिक की सभी लोग भयभीत हुए,
किन्तु सत्य के धनी नृपति तो अति निर्भय अति स्फीत हुए।

गीत

बताएँ शान्ति-सदन ऋषि राज!
क्रोध का क्या कारण है आज?

मुझ से न्याय करने आए,
कुछ भी नहीं समझ में आए,

राज से क्या ऋषियों का काज!

आज्ञा होती मैं खुद आता
जो कुछ होता तुम्हें बताता,

आप हैं हम सबके सरताज!

ऋषिवर होते समता-धारी
सहज करुणा-निर्झर भारी,

आप है किस पर क्या नाराज!

न्याय औ' क्रोध मेल नहिं खाते,
क्रोध से झूठे माने जाते,
सूत्र यह शासन का महाराज।
शान्ति से बैठ, यह है आसन,
कीजे ऋषि-मर्यादा पालन,
भूमि पर खड़े, हमें है लाज।
राजा सभी प्रजा का होना,
कुछ भी पक्षपात ना होना,
न्याय यहाँ पाता शुद्ध, समाज।

जहाँ सत्य का तेज वहाँ पर त्रास नही कुछ भी होता,
दुर्बल पापात्मा ही भय का दृश्य देखकर है रोता।
देख नृपति की मुख-मुद्रा अतिशान्त मनोरम तेजोमय,
चकित रह गए कौशिक ऋषिवर,बनी मुखाकृति लज्जामय।

मन मे पश्चात्ताप उठा—"मैं क्यो न्यायालय में आया,
तप-बल द्वारा आश्रम से ही क्यो न बिछादी निज माया।
अब तो मैं ही खुद आया हूँ न्याय-प्राप्ति का पथ लेकर,
शासन के सब नियम पालने होगे, अस्तु मुझे कटु-तर!
मैंने सोचा था जाते ही क्रोध दिखाकर भूपति को,
त्रस्त करूँगा, चरण गिराकर दूर करूँगा दुर्मति को।
किन्तु यहाँ तो मन की सोची बिखर गई सारी कडियाँ,
जीवन मे यह प्रथम बार देखी अप-गौरव की घडियाँ।"

आदर्श सवाद

नृपति-दत्त आसन मिला बैठे ऋषि मन मार
न्याय-हेतु फिर या यहाँ होने लगा विचार।

'महाराज! क्या न्याय चाहते? सेवक को आज्ञा दीजे
उर की उलझी हुई पहेली स्पष्टतया बतला दीजे।"
"जिस घटना का न्याय चाहिए, कितना भीषण है वह पाप,
मुझसे पूछ रहा है क्या तू नहीं जानता अपने-आप?'

'शान्त रहें भगवन्! करुणानिधि! यहाँ क्रोध का काम नहीं'
जान बूझ कर व्यर्थ पूछने वाला मैं अप-नाम नहीं।
अगर जानता मैं होता तो आप यहाँ फिर क्यो आते?
मैं ही स्वय उपस्थित होता राज्य-नियन्ता के नाते।"

नृप जिस तरह राज्य शासन में सब अधिकार तुम्हारा है,
उसी तरह आश्रम-शासन मे सब कुछ स्वत्व हमारा है।

जिस प्रकार नृप, आप राज्य के दोषी को दण्डित करते,
उसी तरह हम भी आश्रम के दोषी को शिक्षित करते।"

"क्षमा करें यह बात आपकी मान्य नहीं हो सकती है,
आश्रम भी कोशल मे, इससे किसे विमति हो सकती है।
आश्रम का अपराधी भी है अत राज्य का ही द्रोही,
आप न उसे दण्ड दे सकते, राज्य दण्ड है सबको ही।"

"क्या कहता है, हम ऋषियो को नृप के आश्रित रहना है,
आश्रम का अपराध करे, हम दण्ड न दे, क्या कहना है?
सत्य कहा है मैंने भगवन्! इसमे कुछ अविचार नही,
आप साधु है, अत दण्ड देने का है अधिकार नही।"

"भ्रष्ट-बुद्धि है तेरी, तुझको ऋषि-गौरव का ध्यान नही,
याद रहे, हम सन्त तनिक भी सह सकते अपमान नही।
जब कि भूप ऋषिकृत नियमो से राज-दण्ड दे सकते हैं,
तब हम आश्रम अपराधी की खबर क्यो न ले सकते है?"

"व्यर्थ क्रोध मत करिए भगवन्! मैंने क्या अपमान किया,
विहित विधानो का ही मैने न्यायोचित व्याख्यान किया।
दण्डविधाता भूपति है, अथवा भूपति के अधिकारी,
और नही कोई हो सकता, शास्त्र-नियम है हितकारी।"
"अच्छा सिद्धाश्रम उपवन को ध्वस्त अप्सरा करती थी,
वृक्ष-लता, फल-फूल तोडती, हँसती, और अकडती थी।

बाँधी मैंने पुण्यलता के बन्धन में निज तप-बल से;
किन्तु एक प्रतिद्वन्द्वी रिपु ने खोली गुप्त कपट छल से।
स्पष्ट कहो या नरनायक का दोषी यों बन जाएगा;
दण्ड-व्यवस्था के नियमों से कौन दण्ड वह पाएगा ?"

अन्तिम काण्ड महर्षि के कहने से भूपति की स्मृति में आया
किन्तु शीलमय सस्मित मुख से कौशिक से था बतलाया।

'भगवन् ! यह तो श्रीचरणों में यह सेवक समुपस्थित है
दण्ड घोर से घोर दीजिए, जो भी उचित अभीप्सित है।
उन्हें दया से मैंने छोड़ा और न कुछ भी मतलब था
प्रतिद्वन्द्वी बन व्यर्थ प्रजा का दुर्मति कहाँ कब था
यदि कोई अधिकार बिना बन्दी को बन्धन में डाले
तो बन्दी कर मुक्त शीघ्र ही भूपति निज शासन पाले।
बन्दी करने वाले को भी उचित दण्ड नृप देता है,
हरिश्चन्द्र तो केवल बन्दी छोड़ क्षमा कर देता है।
वादी हैं ऋषि आप और मैं प्रतिवादी हूँ क्या झंझट ?
न्याय करा लें सभा से मिट जायें व्यर्थ की सब खटपट !

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर कौशिक ऋषि कुछ घबराए;
मानस-नभ में उमड़ विकल्पा-सकल्पा के घन छाए।
मैंने तो सोचा था नृप को दण्ड स्वयं उसके मुख से—
दिलवाऊँगा आज शील के चक्कर में लाकर सुख से।

जिस प्रकार नृप, ग्राप राज्य के दोषी को दण्डित करते,
उसी तरह हम भी ग्राश्रम के दोषी को शिक्षित करते।"

"क्षमा करे, यह वात ग्रापकी मान्य नही हो सकती है,
ग्राश्रम भी कौशल मे, इससे किसे विमति हो सकती है।
ग्राश्रम का ग्रपराधी भी है, ग्रत राज्य का ही द्रोही,
ग्राप न उसे दण्ड दे सकते, राज्य दण्ड है सबको ही।"

"क्या कहता है, हम ऋषियो को नृप के ग्राश्रित रहना है,
ग्राश्रम का ग्रपराध करे, हम दण्ड न दे, क्या कहना है?
मत्य कहा है मैंने भगवन्! इसमे कुछ ग्रविचार नही,
ग्राप साधु हैं, ग्रत दण्ड देने का है ग्रधिकार नही।"

"भ्रष्ट-बुद्धि है तेरी, तुझको ऋषि-गौरव का ध्यान नही,
याद रहे, हम सन्त तनिक भी सह मकते ग्रपमान नही।
जब कि भूप ऋषिकृत नियमो से राज-दण्ड दे सकते हैं,
तब हम ग्राश्रम ग्रपराधी की खबर क्यो न ले सकते है?"

"व्यर्थ क्रोध मत करिए भगवन्! मैंने क्या ग्रपमान किया,
विहित विधानो का ही मैने न्यायोचित व्याख्यान किया।
दण्डविधाता भूपति है, ग्रथवा भूपति के ग्रधिकारी,
ग्रौर नही कोई हो सकता, शास्त्र-नियम है हितकारी।"
"ग्रच्छा सिद्धाश्रम उपवन को ध्वस्त ग्रप्सरा करती थी,
वृक्ष-लता, फल-फूल तोडती, हँसती, ग्रौर ग्रकडती थी।

क्या करुणा का संगत-पथ है अपराधा की गणना में ?
क्या सुनता हूँ, समझ न सकता कैसे आप किस भ्रमणा में ?
अगर वस्तुतः दोषी होता क्या अप्सरा क्यों छुटती ?
तप-बल द्वारा बँधी-बँधी ही जीवन भर दुख में घुटती।
जब कि दोष ही नहीं प्रश्न फिर स्वीकृति का कैसे आता ?
व्यर्थ कहूँ 'हाँ' झूठ करने को धैर्य न यह मुझको भाता।
हाँ अपराध सिद्ध यदि कर दें पल भर में स्वीकृत होगा,
उचित दण्ड के लिए सर्वथा यह मस्तक अवनत होगा।
पंचों-द्वारा निर्णय झट-पट क्यों न करायें झगड़े का,
जो वे कहदें शिर-माथे पर काम नहीं कुछ रगड़े का।
अगर बतादें मुझको दोषी राज-सिंहासन तज दूँगा,
योग्य व्यक्ति को कर अर्पण मैं सीधा वन का पथ लूँगा।

दुराग्रही बन सदा सर्वथा अपने ही हठ पर अड़ते,
न्याय और अन्याय भुलाकर निन्द्य कदाग्रह पर लड़ते !
कौशिक जी भी फँसे व्यर्थ ही ऋषि-गौरव की दल-दल में,
सम्मानित होने के पथ को खोज रहे हैं छल-बल में।

"राजा को यदि दण्ड न दूँ तो मम अपमान भयंकर है,
गौरव-गिरि हो जाय मेरा चूर चूर फिर कंकर है।
मध्यस्थों से निर्णय का पथ नहीं भूल कर भी लूँगा,
मुझ को दोषी बतलायेंगे फिर कैसे मैं पलटूँगा ?

पर यह तो मुझको ही उलटा अपराधी ठहराता है,
'दिया न दण्ड' इसी मे अपनी कृपा विशाल बताता है।
राजा का है पक्ष प्रबल, सब न्यायोचित इसका कहना,
अगर सभा मे करूँ मान्य तो पड़े घोर अपयश सहना।
दण्ड-वण्ड तो गया, मात्र अपराध अगर स्वीकृत करले,
कौशिक तो बस इतने भर से अपने दिल के व्रण भरले।"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले, काँप उठा परिषद्-मण्डल,
भीति-त्रस्त जनता के मन मे मची भयकर उथल-पुथल।

"अरे, नीच! अज्ञान! समझले, तू अपराधी है मेरा,
बन्धन-मुक्त अप्सरा कर दी, क्या अधिकार बता तेरा?
दोष न अपना माना, उलटा मुझ पर ही दोषारोपण,
दूषित है अज्ञान-दोष से तेरे जीवन का कण-कण।
हम ऋषियो की बातो मे भी व्यर्थ टाँग उलझाता है,
मोह-ग्रस्त हो आश्रम मे भी निज अधिकार बताता है।
सूर्य वश के सिहासन पर तुझे बैठना योग्य नही,
राज्य-भार दे अन्य किसी को भोग भाग्य के क्लेश कही?

"भगवन्! आप सन्त हैं मन मे जो भी आए वह कहिए,
किन्तु भूप है दोषी केवल इसी भ्रान्ति मे मत रहिए।
मैने तो कर्तव्य दया-वश दुखियो का दुख दूर किया,
आप बताएँ, और अप्सराओ से क्या कुछ स्वार्थ लिया?

क्या करुणा का मंगल-पथ है अपराधों की गणना में !
क्या सुनता हूँ समझ न सकता फँसे आप किस भ्रमणा में ?
अगर वस्तुतः दोषी होता भला अप्सरा क्या दुखती ?
नृप-बल द्वारा बँधी-बँधी ही जीवन भर दुख में घुलती ।
जब कि दोष ही नहीं प्रश्न फिर स्वीकृति का कैसे आता ?
व्यर्थ करूँ 'हाँ' सुख करने को ढंग न यह मुझको भाता ।
हाँ अपराध सिद्ध यदि कर दें पल भर में स्वीकृत होगा,
उचित दण्ड के लिए सर्वथा यह मस्तक अवनत होगा ।
पक्षों-द्वारा निर्णय झट-पट क्या न करालें झगड़े का,
जो वे कहदें सिर-माथे पर काम नहीं कुछ रगड़े का ।
अगर बतादें मुझको दोषी राज-सिंहासन तज दूँगा,
योग्य व्यक्ति को कर अर्पण मैं सीधा वन का पथ लूँगा ।

दुराग्रही जन सदा सर्वथा अपने ही हठ पर अड़ते,
न्याय और अन्याय भुलाकर निन्द्य कदाग्रह पर लड़ते !
कौशिक जी भी फँसे व्यर्थ ही ऋषि-गौरव की दल-दल में,
सम्मानित होने के पथ को खोज रहे हैं छल-बल में ।

"राजा को यदि दण्ड न दूँ तो मम अपमान भयंकर है,
गौरव-गिरि हो जाए मेरा चूर-चूर फिर कंकर है ।
मध्यस्थों से निर्णय का पथ नहीं भूल कर भी लूँगा,
मुझ को दोषी बतलायेंगे फिर कैसे मैं पलटूँगा ?

अस्तु दूसरा पथ अपना कर, इसको बाध्य बना डालूँ,
येन-केन रूपेण बात में अपनी साग्रह मनवा लूँ !"

अन्तर में रख कपट-कल्पना बाहर सस्मित मुख बोले;
"राजधर्म के पालन हित सुर-बाला के बन्धन खोले ?"

' हाँ भगवन् ! बस किया वस्तुत राज-धर्म का ही पालन,
अन्य न कोई गुप्त ध्येय था, करुणावश खोले बन्धन ॥"

"राजधर्म का पालन केवल इसी बात मे होता है ?
अथवा अन्य दिशा मे भी कुछ उसका पालन होता है ?"

"हाँ अवश्य, सर्वत्र-सर्वविधि राज-धर्म का पालन है,
यदि छोड़ूँ कर्तव्य एक भी, फिर कैसा नृप-जीवन है ?"

"पता तुम्हे है ? राज धर्म म दान-धर्म कितना सुन्दर ?
नृप-सम्मुख की गई याचना, व्यर्थ न जाती है अणु भर !"

"क्या कहते हैं पता ? पता तो सपने तक में रखता हूँ;
यथा समय पालन करने का भी मैं दृढ़ बल रखता हूँ।"

"अच्छा हम याचक हैं, पूरी माँग हमारी करिएगा।"
"हाँ-हाँ, कहिए जो अभीष्ट हो, अच्छी तरह परखिएगा !"

"माँग रहा हूँ अखिल भूमि का राज्य और वैभव सारा,
कहिए देते है कि नही ? यह माँग बडी असि की धारा !"

हरिश्चन्द्र के मुख-मण्डल पर एक नहीं सलवट आई
पुण्डरीक-सम विकसित मुख से सस्मित वाणी सुन पाई।
'माँग विप्र क्या? तुच्छ राज्य है अभी समर्पण करता हूँ
तन माँगें तो इसको भी मैं देने का दम रखता हूँ।
हरिश्चन्द्र ने आज्ञा दी प्रिय सेवक था आज्ञाकारी
मिट्टी का लघु पिण्ड उपस्थित किया और जल की झारी।

राज्य-दान

हरिश्चन्द्र का देखिये, साहस प्रवल महान,
कौशल से साम्राज्य का पल में करते दान।

मानव-जग में वीर पुरुष ही नाम अमर कर जाते हैं,
कायर नर तो जीवन भर बस रो रो कर मर जाते हैं।
वीर पुरुष ही रण में तलवारो के जौहर दिखलाते,
मातृ-भूमि की रक्षा के हित जीवन-भेंट चढा जाते!
वीर पुरुष ही उग्र घोर तप करते हैं अविचल, निश्छल,
चूर-चूर कर देते, गुरुतर चिर-सचित कर्मों के दल।

वीर पुरुष ही मुक्त हस्त से करते हैं सर्वस का दान,
दीन-दुखी के लिये सर्वदा प्रस्तुत हैं तरु-कल्प-समान।
जिस धन के हित पुत्र, पिता, पत्नी तक भी नर तज देते,
वह धन, दानी-वीर पलक मे रज-कण तुल्य लुटा देते।

राज्य-दान

हरिश्चन्द्र का देखिये, साहस प्रबल महान,
कौशल से साम्राज्य का पल मे करते दान।

मानव-जग मे वीर पुरुष ही नाम अमर कर जाते हैं,
कायर नर तो जीवन भर बस रो रो कर मर जाते है।
वीर पुरुष ही रण मे तलवारो के जौहर दिखलाते,
मातृ-भूमि की रक्षा के हित जीवन-भेंट चढा जाते।
वीर पुरुष ही उग्र घोर तप करते हैं अविचल, निश्छल,
चूर-चूर कर देते, गुरुतर चिर-संचित कर्मो के दल।

वीर पुरुष ही मुक्त हस्त से करते हैं सर्वस का दान,
दीन-दुखी के लिये सर्वदा प्रस्तुत है तरु-कल्प-समान।
जिस धन के हित पुत्र, पिता, पत्नी तक भी नर तज देते,
वह धन, दानी-वीर पलक मे रज-कण तुल्य लुटा देते।

सुमको तो इक साथ मिलेगी महामाम्य से सुन्दर सृष्टि,
भूपति का धीरत्व तपस्वी योगी की भी अन्तर्दृष्टि।"

हरिश्चन्द्र ने सरल भाव से कहा किन्तु ऋषि भी भड़के,
कुछ व्यङ्ग का भास व्यर्थ ही बह भन-विद्युत से-कड़के।

"अरे व्यर्थ की बात न कर, क्या रक्खा है इन बातों में,
मैं भी समझ रहा हूँ जो कुछ छुपा रहा है बातों में!
चरण पकड़ ले क्षमा माँग ले राज्यदान कर क्या लेगा?
करुणा-वश होकर कहता हूँ गर्व तुझे क्षय कर देगा!"

शान्त-भाव से हाथ जोड़कर कहा भूप ने— हे ऋषिवर!
गर्व कपट का काम यहाँ क्या? स्वच्छ,सरस मृदु है अन्तर!
चरण पकड़ लूँ कोटिबार मैं किन्तु क्षमा की क्या मिक्षा?
झूठ बोलकर कुछ करने की मिली नहीं मुझको शिक्षा।
अब तो राज-मुकुट की उपमा चरणों में लेनी होगी,
सेवक को कर्तव्य-भार से छुट्टी दे देनी होगी।"

'अच्छा तो क्या देता है? देखूँ कैसा दानी है?
देने को न एक कौड़ी बस खाली अकड़ दिखानी है।"

हरिश्चन्द्र ने हँसते हँसते-भूमि-पिण्ड ऋषि के कर में—
देकर कहा—"आज से सारा राज्य आपके श्री-कर में!

कौशिक ने संकल्प ग्रहण कर स्वस्ति कहा लज्जित मुख से'
अखिल सभा में छमी ओर अति नीरवता छाई दुख से।

धन-वैभव को त्याग कभी मै हो जाता बर्बाद नहीं,
हठ न, सत्य है इसके होते हो सकता परिवाद नही !"

भूमि-पिण्ड को कर में ले दानार्थ हुए प्रस्तुत ज्यो ही;
मंत्री और सभासद नृप के सम्मुख हुए खड़ त्यों हीं।

"महाराज ! क्या करते हे ? इस भांति कही भी होना है ?
परम्परागत सिंहासन को, क्या कोई यो खोना है ?
कौशिक जैसे क्रोधी ऋषि के हाथो क्या दुर्गति होगी ?
प्रजा तडप कर मर जाएगी, यह भी तो दुष्कृति होगी ?
मामूली-सा प्रश्न नही है, राज्य-दान का कण्टक-मग,
सोच-समझ कर चलिए, सहसा करने से हँसता है जग !"

"आप मौन ही रहे, व्यर्थ मत बाधा डालें शुभकृति मे,
हरिश्चन्द्र का राज्य जा रहा नही किसी भी दुष्कृति मे।
आप सोचिए अपने प्रण से क्षत्रिय कैसे हट सकता ?
वैभव से कर्तव्य बडा है, सत्य नही अब मिट सकता।
सूर्य-वंश का गौरव इससे जग मे युग-युग फैलेगा,
हसने का क्या काम ? सत्य का जग आदर्श पकडलेगा।
सौंप रहा हूँ राज्य-धुरा को योग्य पात्र के दृढ कर मे,
कष्ट प्रजा को क्या होना है ? करे न संशय अन्तर में।
कौशिक ऋषि पहले राजा थे अब अति घोर तपस्वी हैं,
नही देखते क्या तुम ? कितने लोचन-युग तेजस्वी हैं।

तुमको तो इक साथ मिलेगी महाभाग्य से सुन्दर सृष्टि
भूपति का गौरव तपस्वी योगी की भी अन्तर्दृष्टि !"

हरिश्चन्द्र ने सरल भाव से कहा किन्तु ऋषि जी भड़के,
हुआ व्यङ्ग्य का भाव व्यर्थ ही वह घन-विद्युत से कड़के ।

'अरे व्यर्थ की बात न कर, क्या रक्खा है इन बातों में,
मैं भी समझ रहा हूँ जो कुछ छुपा रहा है बातों में !
चरण पकड़ ले क्षमा माँग ले राज्यदान कर क्या लेगा ?
करुणा-वश होकर कहता हूँ गर्व तुझे भस्म कर देगा !"

शान्त-भाव से हाथ जोड़कर कहा भूप ने — "हे ऋषिवर !
गर्व कपट का काम यहाँ क्या ? स्वच्छ, सरल मृदु है अन्तर !
चरण पकड़ लूँ कोटिबार मैं किन्तु क्षमा की क्या भिक्षा ?
झूठ बोलकर लुब्ध करने की मिली नहीं मुझको शिक्षा ।
अब तो राज-मुकुट की उपमा चरणों में लेनी होगी,
सेवक को कर्तव्य-भार से छुट्टी दे देनी होगी ।

'अच्छा तो ला क्या देता है ? देखूँ कैसा दानी है ?
देने को न एक कौड़ी बस खाली अकड़ दिखानी है !"

हरिश्चन्द्र ने हँसते खिलते-भूमि-पिण्ड ऋषि के कर में—
देकर कहा — "आज से सारा राज्य आपके श्री-कर में !

कौशिक ने संकल्प ग्रहण कर स्वस्ति कहा लज्जित मुख से
अखिल सभा में सभी ओर अति नीरवता छाई दुख से ।

क्रोध विचारों का नाशक है, सम्यग्-ज्ञान नही रहता;
क्या होगा फल आगे, इसका कुछ भी भान नही रहता।

कौशिक का क्रोधानल प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ता जाता है,
नृप का देख दान का साहस क्षुब्ध और हो जाता है।
हरिश्चन्द्र को नीचा दिखलाने की बस मन मे ठानी,
भूल-भाल कर मुनि-मर्यादा, करते केवल मन मानी।

"राजन् ! तव सर्वोच्च दान है, हुआ न ऐसा कभी कही;
किन्तु दान के योग्य दक्षिणा देने की क्यो कमी रही ?"

"क्षमा करे, मैं भूल गया था, क्या विलम्ब है अब लीजे"
"सचिव ! कोष से सहस्र स्वर्ण की मुद्रा ला ऋषि को दीजे।"

"धन्यवाद है, क्या इसको ही कहते राज्यश्री का दान;
राज्य दे चुके, फिर भी अटका हुआ कोष के ऊपर ध्यान।

हरिश्चन्द्र कुछ स्तब्ध हुए तो कौशिक की वाणी मचली ?
"देखा, आखिर अन्तर मे का रग निखर आया असली।
दत्त दान मे से देने का कैसा अभिनव ढोंग रचा ?
त्याग राज्य का कर देने पर, कहो और क्या शेष बचा ?

निज, तन, सुत औ, रानी के अतिरिक्त न तेरा कुछ भी है,
आभूषण, धन, जन, सेना पर स्वत्व नही अणुभर भी है।

सूर्य-वंश में जन्म लिया, फिर भी अज्ञान बड़ा भारी;
आदि देव श्री ऋषभ देव की कीर्ति कलंकित कर डारी।
व्यर्थ मुक्त की सुर बालाएँ, फिर अपराध नहीं माना
भ्रान्ति पुनः की राज्य-दान कर, बना दान का दीवाना।
भूल भूल फिर भूल भयङ्कर-भूल दक्षिणा माँगे में;
कैसी जड़ता दिखलाई है इस कोप छिपाने में।
तेरा यह अज्ञान देख कर, करुणा उमड़ी आती है;
स्वीकृत करले दोष कि बिगड़ी बात अभी बन जाती है।

धीर पुरुष अपवादी सुन कर क्षोभ नहीं मन में लाते;
अविचल शान्त प्रशांत सिन्धु से नहीं क्षुब्धता दिखलाते।
घात घात विद्युत पड़े सिंधु मे क्या प्रभाव दिखलाएँगी?
अतल जलधि मे सदाकाल के लिए शान्त हो जाएँगी।
कौशिक ऋषि कटु वाणी कहकर क्रोध वह्नि भड़काते हैं;
किन्तु भूप कितनी ममता से स्नेह-मधुर बतलाते हैं?
"ठीक कहा है भगवन्, अब मैं नहीं कोष का स्वामी हूँ;
फिर भी सहस्र स्वर्ण की मुद्रा दूँगा प्रण का हामी हूँ।
'कैसे देगा इतना ऋण? क्या भीख कहीं से माँगेगा?
व्यर्थ कदाग्रह से निज कुल पर अमिट कलंक लगा लेगा?'
"माँगेगा क्या क्षत्रिय-वंशी यह तो बस देना जाने;
होता है मालूम अभी तक नहीं दास को पहचाने।"

"अच्छा फिर कैसे लाएगा ? अरे हमें भी तो बतला,
बात बना, दक्षिणा कब से लावेगा इस दिन अपना ।"

"तन बेचूँ, कुछ करूँ, आपका ऋण न रुकने पाएगा,
हरिश्चन्द्र रवि-कुल गौरव को नहीं कलंक लगाएगा ।
आज अभी तो यह जीवन है, और नहीं कुछ देने को,
एक मास का समय चाहिए ऋण का भार चुकाने को ।"

क्रोध-प्रकंपित स्वर मे बोले—"अरे नही अब भी हटता,
एक मास का अवसर देना अच्छा दिखला प्रण-दृढता ।
तीस दिनो से बढा एक भी दिन तो ब्रह्म-दण्ड दूँगा;
कर डालूँगा भस्म पलक मे, सारी अकड निकालूँगा ।"

"ब्रह्म-दण्ड से नही, एक बस सत्य-दण्ड से डरता हूँ,
तन, धन, जीवन नश्वर है, परवाह न इसकी करता हूँ ।
शिरोधार्य है आज्ञा, ऋषिवर ! पूर्णतया पालन होगी,
चलता हूँ, अब ऋण-शोधन मे देर नही कुछ भी होगी ।"

कहाँ चला है, एक बात है, सुनले ध्यान लगा कर तू,
महा पुनीत दक्षिणा-ऋण है, देना स्वयं कमा कर तू ।
अगर किसी से बिना परिश्रम मुफ्त दक्षिणा लाएगा,
स्पष्ट कहे देता हूँ, कौशिक पैरो मे ठुकराएगा ।"

"प्रभो ! आपका हरिश्चन्द्र क्या मुफ्त दक्षिणा लाएगा ?
एक एक कौडी तक अपने बल से स्वयं कमाएगा !

सूर्य-वंश की गरिमा को अक्षुण्ण सर्वथा रक्खूंगा
आप रहे निश्चिन्त दक्षिणा स्वयं कमा कर ही दूंगा।

"अच्छा तो बस आज रहो कल तुमको कल देना होगा;
रानी सुत को संग में लेकर कौशल तज देना होगा।"

अच्छा भगवन्! नमस्कार है, आज्ञा दीजे चलता हूं,
यात्रा की आज्ञानुसार अब शीघ्र व्यवस्था करता हूं।
भ्रमवश यदि अपराध हुआ हो, क्षमा दास को करिएगा
कभी-कभी निज हृदय कमल में याद दास को करिएगा
हां प्रभु! एक प्रार्थना मेरी श्वास-तौर से चरणों में
अवध-राज्य की प्रजा आपके रहे प्रेम के झरणा में।
अब तक सुख में रही प्रजा है पाकर मधुर सुखद शासन,
यही आपसे भी आशा है, सुत-सम करें प्रजा-पालन।
कौशल के जन भद्र-सरस हैं, ध्यान न भूलों पर देना;
करुणा सागर! करुणा करना व्यर्थ भस्म मत कर देना।

विश्वामित्र उबल कर बोले—"हमको भी शिक्षा देता?
शर्म नहीं आती है तुमको तू ही क्या जग में नेता?
तूने किस बिरते पर मुझको समझा मूरख अज्ञानी
नहीं जानता आज विश्व में गूंज रही मेरी वाणी।
मैं राजा हूं अतः राज्य का शासन अप-रुचि बदलूंगा
जीर्ण शीर्ण तव शासन-विधि का चिह्न नहीं रहने दूंगा।

जो कुछ करना होगा, होगा, तुझे व्यर्थ की चिन्ता क्या ?
प्रजा प्रेम से होगी तेरी सत्ता, रहो अब सदा यथा ?

सारा राज्य आज से मेरा हुआ, बना मैं अधिकारी,
पल मे नई व्यवस्था होगी, होगी नई प्रथा जारी !"
वीर सभासद् कटु वचनों को, सुनते-सुनते श्रान्त हुए,
रोक न सके स्वय को आखिर दुर्नय से उद्भ्रान्त हुए।
"ऋषिवर ! यह क्या विकट सभ्यता मर्यादा का लेश नही,
उपकारी दाता को देते शिष्ट कभी यो क्लेश नही ?
आप साधु हैं, रहे साधु ही, क्यो स्व-साधुता भग करें,
निष्कारण केवल आग्रह-वश, क्यो भूपति को तग करे ?
अगर राज्य की इच्छा है तो राज्य पा लिया भूपति से,
ऊपर से क्या और दक्षिणा ? काम लीजिए सन्मति से।
अगर स्वर्ण की मुद्राओ पर मन है तो हम से लीजे,
नृप को कर ऋण-मुक्त नगर मे रहने की आज्ञा दीजे।
शासन यत्र व्यवस्थामय है, इसमे भी क्या परिवर्त्तन,
अनुचित शासन सह न सकेंगे, हम कोशल जनपद के जन।'

देखा, पाठक वृन्द ! पूर्व का युग भी कैसा उन्नत है,
सत्य-धर्म के आगे धन, जन, मान, प्रतिष्ठा तृणवत है।

राज्यभ्रष्ट निज भूपति का सभ्या ने कैसा पक्ष लिया ?
सत्य पक्ष के लिए क्रुद्ध ऋषि कौशिक का भी भय न किया।

आप सामने हैं कौशिक पर आग्रह का था मूल बढ़ा
क्रोधानल की ज्वालाओं की भीषणता का वेग बढ़ा।

"तुम होते हो कौन बीच में जाओ अपना काम करो,
राजा को च्युत करने का यह ढोंग-दिखावा तुम न करो।
मैं कौशिक हूँ अतः सर्वथा मुझसे डरते दूर रहो
अगर अधिक बकवास करो तो मरने से मजबूर रहो।

"क्या कहते हैं ढोंग दिखावा? अटल सत्य का दर्शन है,
मरने से हम तनिक न डरते व्यर्थ आपका तर्जन है।
ऋषि होकर भी आप शान्ति से काम नहीं क्यों ले सकते?
कितनी घोर अनीति रीति है ध्यान नहीं क्या दे सकते?
हम भूपति के और हमारे भूपति हैं, तुम होते कौन?
मनमानी न यहाँ संभव है व्यर्थ न बोल रहिए मौन।

हरिश्चन्द्र ने कहा बीच में— 'क्या कहते हो शान्त रहो
ऋषिवर जो कुछ कहें करें वह शीश झुकाकर सभी सहो।
दान दे चुका हूँ मैं समस्त कौशल के ऋषि नायक हैं
आप सभासद हुए आज से ऋषि के राज्य-सहायक हैं।
शासक और सभासद के सम्बन्ध मधुर वांछित जग में
कभी भूलकर आप न जाएँ अमद भाव के कटु मग में।

विश्वामित्र क्रोध औ' छल के कारण तेजोहीन हुए
मन्त्री का कुछ कर न सके ज्ञान बल के आगे क्षीण हुए।

सभासदों के ऊपर का सब क्रोध धरापति पर बरसा,
उबला, उछला, उभला अति ही क्षुब्ध पहाड़ी निर्झर-सा ।

"अरे कुटिल, क्या जाल ? इधर तो बना-राज्य देकर दानी,
उधर प्रजा को भड़का कर विद्रोह कराना अज्ञानी !
पाक-साफ बनने को ऊपर से समझाने की माया,
अगर राज्य का मोह शेष था, फिर क्यों दानी कहलाया ?"

अभिवन्दन कर कहा भूप ने–"क्षमा सिन्धु ! अब क्षमा करें,
मेरा क्या है दोष सभासद अगर आपसे नहीं डरें ।
मै तो यहीं अचल बैठा हूं नही अभी तक कही गया,
किसको कैसे क्या बहकाया ? समझ न पाया दोष नया !
आप स्वयं क्रोधित पहले हो, क्रोध इन्हे दिलवाते हैं,
शासक-योग्य स्नेहयुत मृदुता नही आप अपनाते हैं ।
धैर्य रखे, नव परिवर्तन है, ठीक सभी हो जायेगा,
यथाशक्य यह सेवक, जनता भवदनुकूल बनाएगा ।"

हरिश्चन्द्र ऋषि-आज्ञा लेकर विदा महल की ओर हुए,
गए सभासद भी नगरी मे व्याकुल दुःख-विभोर हुए ।

प्रजा प्रेम

राज्य-दान की बात का मचा नगर में शोर;
उमड़ पड़ा जनसिन्धु तब राजसभा की ओर।

प्रजा-दुःख मे दुखी सौख्य में सुखी भूप यदि होता है,
हृदय प्रजा का राजा के प्रति फिर वैसा ही होता है।
सत्यनिष्ठ कर्तव्य-निष्ठ, धर्मज्ञ भूप के प्रति तन मन—
सभी समर्पण करती जनता प्रबल प्रेम का है बन्धन।

हरिश्चन्द्र के प्रति कौशल की जनता थी अति स्नेहवती
राज्य-दान की घटना सुन कर बनी दुःखिता शोकवती।
गली और बाजारों में सर्वत्र, यही बस चर्चा थी,
कौशिक ऋषि के लिए एक धिक्कार शब्द की वर्षा थी।
क्रुद्ध, क्षुब्ध जनता का सागर उमड़ रहा था भयकारी
राजसभा के दरवाजे पर भीड़ जुटी अति ही भारी।

सहस्र-सहस्र कण्ठों की वाणी गर्ज रही थी अति भीषण,
"देखो क्या, बस मार-मार कर आज बना डालो चूरण।"

देख दशा उन्मत्त प्रजा की, पुर नेता आगे आए,
सोचा कहीं क्षोभ के कारण रक्त-पात ही हो जाए।

"मित्रो ! सोचो और विचारो, नहीं शीघ्रता हितकारी,
हुल्लड-बाजी के कारण मे हो न व्यर्थ हत्या जारी।
दु साहस मे कभी न अपना और नृपति का हित होगा,
प्रत्युत भूपति रुष्ट बनेंगे, कार्य अगर अनुचित होगा।
किसी तरह भी हो, राजा ने राज्य दिया है कौशिक को,
बतलाएँ फिर क्या हक हमको बुरा बताएँ कौशिक को।
पाँच-सात सज्जन मिलकर हम कौशिक ऋषि को समझाएँ,
सभव है कुछ विकट ग्रन्थियाँ उलझी हुई सुलझ जाएँ।"

हुए एक मत सब जन इस पर, बना शीघ्र प्रतिनिधि-मडल।"
योग्य, चतुर, समयज्ञ, अभय, विश्वासपात्र, जनप्रिय, निश्चल।
राज्य-सभा में पहुँचे प्रतिनिधि किया शिष्टता-युत वन्दन,
नम्र भाव से हाथ जोड कर किए प्रकट मन के स्पन्दन।

"भगवन् ! आज अचानक कैसा यह परिवर्तन आया है ?
क्या झझट है ? समझ न सकते, शोक नगर मे छाया है।
आप तपोधन त्यागी ऋषि हैं, राज्य प्राप्त कर क्या लेंगे ?
त्याग दिया जब निजी राज्य फिर क्यो अन्यत्र दखल देंगे।"

"रहने दो बस उपेक्षा की व्यर्थ बनाते क्यों झड़ियाँ,
तुम्हें सत्य का पता न समझो पहले घटना की कड़ियाँ।
मुझे राज्य की क्या इच्छा ? खुद मैंने अपना ठुकराया
क्या समझा ? इस तुच्छ राज्य पर कौशिक का मन ललचाया।
हरिश्चन्द्र है मूर्ख स्वयंकृत उसकी ही सारी झंझट
शाप-बद्ध सुर-बालाओं को छोड़ व्यर्थ ही की खटपट।
उपालम्भ में बन आया वह उलटा मुझसे अकड़ा
अपराधों की स्वीकृति कैसी ? झगड़े का उत्पथ पकड़ा।
राज धर्म का झूठा हठ कर राज्य-दान भी दिया मुझे
दान दिया क्या शोर मचाकर अपमानित अति किया मुझे।

'आप सन्त हैं, क्षमा-सिन्धु हैं क्षमा भाव रक्खें सब पर;
क्या झंझट है लेना तुमको वापस राज्य दीजिए फिर।

"यह सब झूठी लल्लो-चप्पो राज्य न वापस हो सकता;
कौशिक अपने ऋषि-पद का अभिमान न हर्गिज खो सकता।
राजा को समझाओ अपना दोष क्यों न स्वीकार करे ?
अभी राज्य लौटा देता हूँ यही राज्य का लोभ धरे !

"राजा न्यायनिपुण हैं, हर्गिज दोष न कोई कर सकते;
सत्य-निष्ठ हैं, अतः कभी क्यों मिथ्या स्वीकृति भर सकते ?
अगर वस्तुतः कोई भी अपराध नरापति से होता,
स्पष्ट आप से क्षमा माँगते यह झगड़ा न बड़ा होता ?'

"अरे समझ कर बोलो तुम, क्या कहते हो मैं झूठा हूँ;
मैं कौशिक हूँ नहीं जानते, कौशिक रूठा क्या है।
दोषी को निर्दोष बताते तुम्हें न लज्जा आती है;
जब भ्रष्ट नृप के हाथ हो प्रजा भ्रष्ट हो जाती है।"

"खैर, हमें क्या, दोषी होंगे, वापस राज्य न लौटाएँ,
किन्तु दक्षिणा के ऋण का तो प्रश्न शान्ति से सुलझाएँ।"
'अरे कह दिया तुमको, जाकर हठी भूप को समझाओ,
एक दोष की स्वीकृति से सब प्रश्न खत्म है समझाओ।"

"दोष, दक्षिणा-ऋण की बात भिन्न भिन्न है आपस में,
भगवन्! ऋषि होकर भी भूल, अटे विराट दु साहस में।
सहस स्वर्ण की मुद्रा क्या हैं, लक्ष कोटि हमसे लीजे,
किन्तु प्रार्थना है भूपति को ऋण से मुक्त बना दीजे।
यह तो है अन्याय भयकर राजा भी निर्वासित हो;
स्वर्ण-महल के रहने वाले पद पद घोर निरस्हन हो।"

"तुम भी हो कोशल के वासी, राज्य-दान मे दान किए,
किस झूठी भ्रमणा में फिरते देने का अभिमान लिए।
हरिश्चन्द्र यदि रहे यहाँ तो फिर मैंने क्या राज्य लिया,
वह शासक क्या, जिसने अपना शासन नहीं स्वतन्त्र किया।

राज्य-दान दे चुका, बताओ, फिर कैसे वह रह सकता
सत्य-निष्ठ है हरिश्चन्द्र, क्या सत्य-भग है कर सकता?

बुद्धि भ्रष्ट तुम सोच न सकते मैंने क्या अन्याय किया
अपराधी को दण्डित कर ऋषि-गौरव को अक्षुण्ण किया।

"यह कैसा है न्याय, वृथा ही भूपति को दुख देते हैं;
ऋषि मुनियों के उज्ज्वल यश को घोर कलङ्कित करते हैं।
राजा अभय रहेंगे कुछ भी दख्ल न देंगे शासन में;
फिर क्यों हठ-वश अड़े हुए हैं, भूपति के निर्वासन में
जान गए हैं छुपा हुआ है क्या निर्णय अन्तर मति में ?
मन्त्र प्रजा को करना है बस भूपति की अनुपस्थिति में।
किन्तु समझ लें सफल न होंगे यह कौशल की चलना है;
प्राणों से भी बढ़ कर उसको न्याय-नीति की ममता है।

"रे असभ्य ! निर्लज्ज ! बोलने की भी तुमको बुद्धि नहीं;
द्वेष जन्य दुष्कृति से दूषित अन्तर में अणु शुद्धि नहीं !
निकलो बाहर, दुराग्रही हो व्यर्थ कदाग्रह ठान रहे;
ऋषियों से हठ करने का परिणाम न सुन्दर, ध्यान रहे।"

शिष्य वर्ग ने आज्ञा पाकर सभ्य प्रमुख निकाल दिए;
बाहर आए घोर निराशा की निज मुख पर छाप लिए।
जनता को जब पता लगा अपमान और निष्फलता का;
रौद्र रूप हो जाग उठा अति साहस मद-मत्तता का।

नेताओं ने कहा— आप सब शान्त रहें, झगड़ा न करें;
किसी तरह भी हो मन मथ कर, अब तो यह दुख सिन्धु तरें।

राजा ने जब स्वय राज्य का दान दिया, तब क्या करना ?
कौशल का विधि वाम हुआ है, पड़ा अचानक दुख भरना ।

मानव को तो यत्न मात्र का स्वत्व मिला है जीवन मे,
फल मिलना, अधिकार परे की बात भाग्य के बन्धन में ।"
राजा के गुण-गायन गाते विवश प्रजाजन लौट गए,
'स्वय नृपति का दान' श्रवण कर चित्त उबलते शान्त हुए ।

आदर्श पत्नी

पति-पत्नी के प्रेम का भव्य मनोहर चित्र
पाठक देखें भक्ति से उज्ज्वल करें चरित्र।

हरिश्चन्द्र नृप स्वर्ण-महल की ओर प्रेम से बढ़ते हैं
किन्तु चित्त की स्थिति विचित्र है पाँव न आगे पड़ते हैं।
आँखों के आगे रह रह कर तारा झलक दिखाती है,
भोले-भाले रोहित की भी याद हृदय अकुलाती है।

कौशिक को सर्वस्व दान दे दिया नहीं कुछ भी चिन्ता
यह प्रकृति का बना हुआ है क्या निज सुख-दुख की चिन्ता ?
तारा-रोहित को लेकिन निष्कारण झंझट में डाला
मुझको अपना सत्य निभाना मैं क्यों भोग दुख-ज्वाला ?
विकट समस्या हल हो कहाँ किसके आश्रय में छोड़ूँगा ?
सबसे बढ़कर मृदुल स्नेह का बन्धन कैसे तोड़ूँगा ?

इस प्रकार चल सकल्पो की लहरो से लेते टक्कर,
कम्पित तन से, कम्पित मन से पहुँचे महलो मे नृपवर।

पता चला जब दासी से तो उन्मन उपवन मे आए,
लता कुञ्ज की ओट मातृ-सुत स्नेहमूर्ति बैठे पाए।

तारा, सुत को गोद लिए आनन्द-सिन्धु में बहती है,
रोहित की निर्द्वन्द्व स्वर्ण-सी मूर्ति खिल-खिला हँसती है।
शान्त, कान्त, एकान्त स्थान में पूर्ण शान्ति थी सुखदानी,
रोहित के प्रति खेल-खेल में, बोली सस्मित महारानी।

"बेटा तू है कौन ? और किस कुल का उज्वल दीपक है ?
सूर्यवश के महिमामय यश गौरव का सम्वर्द्धक है।
हठी, लालची, अभिमानी, कटुभाषी तू न कभी बनना,
वीर पिता के वीर पुत्र हो, निर्भयता का पथ चुनना।
कैसा अच्छा शोभित होगा रत्नजटित सिंहासन पर,
अपना यश-परिमल फैलाना प्रजा प्रेम से पालन कर।"

बालक के मन पर माता की शिक्षा स्थायी होती हैं,
स्नेह-सिक्त मधु वचनावलियाँ जीवन का मल धोती हैं।
कच्चा घट है शिशु, मन चाहा रूप विरूप बना लीजे,
कायर, वीर, मूर्ख या पण्डित, दुर्जन, या सज्जन कीजे।
हन्त ! आज की माताएँ सन्तति का ध्यान न रखती है,
कोमल मन म दुर्भावो का जहर हलाहल भरती हैं।

हाँ तो हरिश्चन्द्र महा महुल दृश्य देख अति मकुलाए;
भावी कष्ट-चित्र से आँसू आँखों बीच उमड़ आए।

मन ही मन में कहा 'प्रिये ! तू किस भ्रमणा में भूली है ?
क्या रोहित के लिए प्रेम में बैठी फूली-फूली है ?
भाज तुम्हारा पति रोहित का हा ! सर्वस्व लुटा आया,
पता नहीं क्या तुम्हें भूप से बस कंगाल बना आया।"

सहसा दृष्टि पड़ी रानी की क्षीण हास्य उछला आकर
उर-विनोद के लिए पुत्र से रानी बोली मुसका कर।

बस, रोहित बस महाराज अब तक न स्वर्ण-मृगादिक लाए;
देख किन्तु चुपके से तेरा खेल देखने को आए।

तारा ज्योंही रोहित का कर पकड़ प्रसन्न को चलती है
बाल मूर्ति कर छुड़ा पिता की ओर विहँसती बढ़ती है।
हरिश्चन्द्र ने उठा गोद में सुत का स्मित मुख चूम लिया
तारा हँस कर बोली—"मेरा रोहित भी तो छीन लिया
अच्छा मैं तो पुत्र आपका मैं एकाकी रह लूँगी
देख, किन्तु रोहित ! फिर अपने पास नहीं आने दूँगी।

कह कर यों जब चली विहँसती विद्युत रेखा-सी तारा
भूपति कृत्रिम स्मित कर बोले सभय कर निज बल सारा।

"हाँ तारा ! तुम जाओ, अब तो तुम्हे अकेले रहना है;
यह विनोद का समय न, जो कुछ कहना सच्चा कहना है।
आज हृदय की रानी ! तुमसे विदा माँगने आया हूँ,
पता नही अब कब मिलना हो, अन्तिम मिलने आया हूँ।"

तारा स्तब्ध हुई क्रीडा औ' कौतुक पल में नष्ट हुए,
देखा पति के मुख-मण्डल पर म्लानि भाव ही दृष्ट हुए।

हरिश्चन्द्र के मुख पर गहरी करुणा की तमसा छाई,
श्रावण में शशधर मण्डल पर जैसे श्याम घटा आई।

कातर गति से तारा ने आ हाथ पकड पूछा – "प्रियतम !
क्या कारण ? क्या हुआ ? बताएँ, हृदय भयाकुल कंपित मम !

"रानी ! बस, क्या सुन कर लोगी, तुम न सहन कर पाओगी,
इस अनर्थ का सूत्रपात भर सुनते ही डर जाओगी।"

'डरने की क्या बात ? आपकी दासी हूँ मैं भी स्वामी !
वीर क्षत्रिया बाला हूँ, मैं श्री चरणो की अनु-गामी !
समझ चुकी हूँ मुख–मुद्रा से कोई दु खद घटना है,
किन्तु नाथ ! क्या दुख के कारण जीवन से मर मिटना है ?
दु ख, दु ख है, जब आता है, सहन किया ही जाता है,
नर-जीवन मे धूप छाँह-सा सुख-दुख का चिर नाता है !
सह न सकी यदि सारा दुख तो आधा निश्चित सह लूँगी;
मैं हूँ अर्द्ध-अङ्गिनी स्वामी ! धीर दु ख में रह लूँगी।

"तारा! तुमसे कहाँ छिपाऊँ? तू साथिन है जीवन की,
ब्याह-काल से जुड़ी हुई है कड़ियाँ बन्धन तुमसे मन की।
कौशिक ऋषि ने आज सभा में राज्य दान मुझसे माँगा
मैंने भी कर्तव्य-विवश सर्वस्व उसी क्षण मैं त्यागा।
तारा! कुछ भी नहीं जरा न ध्यान नहीं आया तेरा
रोहित से सुत का भी भूला आग्रह ने मन को घेरा!

"हृदयेश्वर! क्या इसी बात की दुख घटा यह छाई है,
मैंने तो समझा था कोई विपद भयानक आई है।
कौशिक को साम्राज्य दिया इससे तो हर्ष बड़ा भारी
सूर्यवंश की रही सुरक्षित चिर-संचित महिमा सारी।
याचक बनकर ऋषिवर आये देना ही सर्वोत्तम था
दानपात्र भी भाग्य-योग से मिला महान महत्तम था।
आज गर्व से मेरा मस्तक ऊपर उठता जाता है,
दानवीर पति सर्वोत्तम पा हर्ष न हृदय समाता है।
रोहित की क्या चिन्ता? वह तो योग्य पिता का योग्य तनय
सब कुछ पायेगा निज बल से पाने को वह उचित समय।"

'राज्य मात्र ही नहीं राज्य के साथ सभी कुछ दे डाला
फूटी कौड़ी भी न पास में बचता क्या देने वाला?
नहीं रहा है खाने को हाँ एक समय का भी भोजन
रहने को घर नहीं, और फिर ऊपर बड़ा दक्षिणा ऋण।"

"प्राणेश्वर ! यह दान अलौकिक और न कोई दे सकता,
सर्व समर्पण करने का गुरु भार और क्या खे सकता ?
धन्य भाग्य हैं, सूर्यवंश का शुभ गौरव तुमसे चमका,
क्षत्रिय जग मे दान धर्म का उज्ज्वल मुख फिर से दमका ।
रहने खाने की क्या चिन्ता ? पशु भी तो रहते खाते,
हम तो मानव सदा सत्य के बल पर आनँद ही पाते !"

"तारा! तुम हो धन्य सर्वथा, धन्य तुम्हारे मात पिता,
मैं भी धन्य, मिली जो तुमसी श्रेष्ठ सहचरी धर्म-रता ।
सहानुभूति की मूर्ति मनोहर, कितना अविचल मन पाया,
मैंने समझा दुख पाओगी, किन्तु धैर्य दृढ दिखलाया !
शिक्षा लेंगी तुमसे आगे आने वाली महिलाएँ,
विकट परिस्थिति में भी पति के चरणो पर कैसे जाएँ ?"

"इसमे क्या है धन्यवाद की बात, प्राणपति ! बतलाएँ,
हम महिला कर्तव्य-मार्ग से कैसे नाथ ! पिछड जाएँ ?
मैंने तो पत्नी होने का अपना धर्म निभाया है,
जो कुछ भी कर सकी प्रभो ! यह सभी तुम्हारी माया है ।
मेरे मन मे आप बडे हैं राज्य चीज क्या बेचारा ?
पतिव्रता पति-हित ठुकराती स्वर्गो का भी सुख प्यारा ।
राज्य-दानका मुझको दुख क्यो होता, मै अर्द्धाङ्गिनि हूँ,
दान धर्म के अर्ध भाग की न्याय सिद्ध अधिकारिणि हूँ ।"

"अच्छा प्यारी ! मुझे यहाँ से कल प्रभात ही जाना है,
एक मास के अन्दर ऋषि के ऋण का भार चुकाना है।
अगर मास में ऋण न दे सका सत्य भ्रष्ट हो जाऊँगा,
कौशिक ऋषि के क्रोधानल में वंश-सहित जल जाऊँगा।
अस्तु, तुम्हारे लिए आज ही मैं प्रबन्ध कर देता हूँ,
तुम्हें तुम्हारे पूज्य पिता के घर पर पहुँचा देता हूँ।"

तारा के मस्तक पर सहसा अम्बर-मण्डल टूट पड़ा,
घात पात वज्रपात-सा भीषण हुआ हृदय में दुःख बड़ा।

कुछ क्षण रह निःस्तब्ध कहा– 'पतिदेव आप क्या कहते हैं?
आत्मा के जाने के पीछे प्राण कहाँ कब रहते हैं?
विपत्काल में छोड़ हमें क्या स्नेह-सूत्र को तोड़ेंगे?
क्या सचमुच ही चिरदासी से आज निजानन मोड़ेंगे?
तन से छाया और चन्द्र से स्वच्छ चन्द्रिका दूर नहीं
हो सकती पत्नी भी पति से दूर निकाल कदापि नहीं।"

"तारा ! वन-पथ औ' प्रवास का जीवन कितना संकटमय?
पद पद पर अपमान यंत्रणा भव्य भवन सभी घन भय।
ठीक समय पर रूखे-सूखे भोजन का भी है टोटा
बाहर जाकर बन जाता व्यक्तित्व महत्तम भी छोटा!
राज-महल की राजवधू तुम कमल-पुष्प-सा कोमल तन
रुचिर नीड़ में पली सुखों की कैसे होगा कष्ट-सहन?"

"प्राणेश्वर ! यह दान अलौकिक और न कोई दे सकता,
सर्व समर्पण करने का गुरु भार और क्या खे सकता ?
धन्य भाग्य हैं, सूर्यवश का शुभ गौरव तुमसे चमका,
क्षत्रिय जग मे दान धर्म का उज्ज्वल मुख फिर से दमका।
रहने खाने की क्या चिन्ता ? पशु भी तो रहते खाते,
हम तो मानव सदा सत्य के बल पर आनँद ही पाते !"

"तारा! तुम हो धन्य सर्वथा, धन्य तुम्हारे मात पिता,
मैं भी धन्य, मिली जो तुमसी श्रेष्ठ सहचरी धर्म-रता।
सहानुभूति की मूर्ति मनोहर, कितना अविचल मन पाया,
मैंने समझा दुख पाओगी, किन्तु धैर्य दृढ दिखलाया !
शिक्षा लेंगी तुमसे आगे आने वाली महिलाएँ;
विकट परिस्थिति में भी पति के चरणो पर कैसे जाएँ ?"

"इसमे क्या है धन्यवाद की बात, प्राणपति ! बतलाएँ,
हम महिला कर्तव्य-मार्ग से कैसे नाथ ! पिछड जाएँ ?
मैंने तो पत्नी होने का अपना धर्म निभाया है,
जो कुछ भी कर सकी प्रभो ! यह सभी तुम्हारी माया है।
मेरे मन मे आप बडे हैं राज्य चीज क्या बेचारा ?
पतिव्रता पति-हित ठुकराती स्वर्गो का भी सुख प्यारा।
राज्य-दानका मुझको दुख क्यो होता, मैं अर्द्धाङ्गिनि हूँ,
दान धर्म के अर्ध भाग की न्याय सिद्ध अधिकारिणि हूँ।"

"अच्छा प्यारी ! मुझे यहाँ से कल प्रभात ही जाना है,
एक मास के अन्दर ऋषि के ऋण का भार चुकाना है।
अगर मास मे ऋण न दे सका सत्य भ्रष्ट हो जाऊँगा,
कौशिक ऋषि के क्रोधानल में वंश-सहित जल जाऊँगा।
अस्तु, तुम्हारे लिए आज ही मैं प्रबन्ध कर देता हूँ,
तुम्हें तुम्हारे पूज्य पिता के घर पर पहुँचा देता हूँ।"

तारा के मस्तक पर सहसा अम्बर-मण्डल टूट पड़ा,
घात घात वज्रपात-सा भीषण हुआ हृदय मे दुःख बड़ा।

कुछ क्षण रह निःस्तब्ध कहा– 'पतिदेव आप क्या कहते हैं?
आत्मा के जाने के पीछे प्राण कहाँ कब रहते हैं?
विपदामय में छोड़ हमे क्या स्नेह-सूत्र को तोड़ेंगे?
क्या सचमुच ही चिरदासी से आप निजानन मोड़ेंगे?
तन से छाया और चन्द्र से स्वच्छ चन्द्रिका दूर नहीं
हो सकती पत्नी भी पति से दूर त्रिकाल कदापि नहीं।"

"तारा ! वन-वन में प्रवास का जीवन कितना संकटमय?
पद पद पर अपमान यंत्रणा अन्य अनेक सभी क्षण भय।
ठीक समय पर रूखे-सूखे भोजन का भी है टोटा
बाहर जाकर बन जाता व्यक्तित्व महत्तम भी छोटा।
राज-महल की राजवधू तुम कमल-पुष्प-सा कोमल तन
सुचिर मोद में पली सुखों की कैसे होगा कष्ट-सहन?"

"प्राणेश्वर ! यह दान अलौकिक और न कोई दे सकता,
सर्व समर्पण करने का गुरु भार और क्या खे सकता ?
धन्य भाग्य हैं, सूर्यवश का शुभ गौरव तुमसे चमका,
क्षत्रिय जग मे दान धर्म का उज्ज्वल मुख फिर से दमका।
रहने खाने की क्या चिन्ता ? पशु भी तो रहते खाते,
हम तो मानव सदा सत्य के बल पर आनंद ही पाते।"

"तारा! तुम हो धन्य सर्वथा, धन्य तुम्हारे मात पिता,
मै भी धन्य, मिली जो तुमसी श्रेष्ठ सहचरी धर्म-रता।
सहानुभूति की मूर्ति मनोहर, कितना अविचल मन पाया,
मैंने समझा दुख पाओगी, किन्तु धैर्य दृढ दिखलाया।
शिक्षा लेंगी तुमसे आगे आने वाली महिलाएँ,
विकट परिस्थिति में भी पति के चरणो पर कैसे जाएँ ?"

"इसमे क्या है धन्यवाद की बात, प्राणपति! बतलाएँ,
हम महिला कर्तव्य-मार्ग से कैसे नाथ ! पिछड जाएँ ?
मैंने तो पत्नी होने का अपना धर्म निभाया है,
जो कुछ भी कर सकी प्रभो ! यह सभी तुम्हारी माया है।
मेरे मन में आप बडे हैं राज्य चीज क्या बेचारा ?
पतिव्रता पति-हित ठुकराती स्वर्गो का भी सुख प्यारा।
राज्य-दानका मुझको दुख क्यो होता, मैं अर्द्धाङ्गिनि हूँ,
दान धर्म के अर्ध भाग की न्याय सिद्ध अधिकारिणि हूँ।"

"अच्छा प्यारी ! मुझे यहाँ से कल प्रभात ही जाना है,
एक मास के अन्दर ऋषि के ऋण का भार चुकाना है।
अगर मास में ऋण न दे सका सत्य भ्रष्ट हो जाऊँगा,
कौशिक ऋषि के क्रोधानल में वंश-सहित जल जाऊँगा।
अस्तु, तुम्हारे लिए आज ही मैं प्रबन्ध कर देता हूँ,
तुम्हें तुम्हारे वृद्ध पिता के घर पर पहुँचा देता हूँ।"

तारा के मस्तक पर सहसा अम्बर-मण्डल टूट पड़ा,
सत घात वज्रपात-सा भीषण हुआ हृदय में दुःख बड़ा।

कुछ क्षण रह निःस्तब्ध कहा— 'पतिदेव आप क्या कहते हैं?
आत्मा के जाने के पीछे प्राण कहाँ कब रहते हैं?
पितालय में छोड़ हमें क्या स्नेह-सूत्र को तोड़ेंगे?
क्या सचमुच ही चिरदासी से आज निर्मम मोड़ेंगे?
तन से छाया और चन्द्र से स्वच्छ चन्द्रिका दूर नहीं
हो सकती पत्नी भी पति से दूर त्रिकाल कदापि नहीं।

"तारा ! वन-पथ औ' प्रवास का जीवन कितना संकटमय?
पद पद पर अपमान यंत्रणा अन्य प्रदेश सभी भय मय !
ठीक समय पर रूखे-सूखे भोजन का भी है टोटा
बाहर जाकर बन जाता व्यक्तित्व महत्तम भी छोटा !
राज-महल की राजवधू तुम कमल-पुष्प-सा कोमल तन
मुखिर पोद में पली सुता की कैसे होगा कष्ट-सहन ?"

'भाग्यवती हूँ पति का इतना प्रेम पूर्ण आदर पाया
अपने दुख का ध्यान नहीं पत्नी का दुख ही अकुलाया।
किन्तु नाथ ! मैं अर्द्धांगिनि हूँ निज आदर्श न भूलूंगी
चाहे कुछ भी कहें आप मैं अपने प्रण पर झूलूंगी।
आधा अङ्ग कष्ट में कसते आधा सुख के सागर में
न्याय कहाँ का खुद ही सोचें अपने निर्मल अन्तर में !
आप एक असहाय दुःख की ठोकर खाएँ दर-दर की
मैं महलों में मौजें लूटूं मखमल के गद्दों पर की।
कोटि-कोटि धिक्कार मुझे, यह बात न हर्गिज हो सकती
तारा महिमामयी को उज्ज्वल मर्यादा कब खो सकती ?
सुख में साथ रहे पति के पर, दुख में छोड़ अकेली हो
वह पत्नी पत्नी न पापिनी पथ से भ्रष्ट रखेली हो।
कष्ट आपके सग जो होगा कष्ट नहीं वह सुख होगा
और आपसे पृथक रहे पर सुख भी मुझको दुख होगा।
बिना आपके स्वर्गलोक को नरक लोक ही जानूँगी
किन्तु आपके साथ नरक को स्वर्ग बराबर मानूँगी।
सौ बातों की एक बात चरणों के साथ चलूँगी मैं
आप नहीं टलते निज प्रण से कैसे नाथ ! टलूँगी मैं ?"

आँखों के पथ अति द्रुतगति से झर-झर अश्रु प्रवाह बहा
अच्छा प्रिये चलो'—भूपति ने मन्द हास्य के साथ कहा।

प्रस्थान

स्वार्थ-हेतु संसार नित्य करता है अभियान
पर भूपति का सत्य के हित सुन्दर प्रस्थान।

आज उषा साकेत पुरी के लिए प्रलय बन आई है
महलों से ले झोंपड़ियों तक घटा शोक की छाई है।
राजा राज्य छोड़ कर काशी जाते यह सुन कर जनता
पागल-सी दौड़ी महलों को वृद्ध युवा बालक वनिता।
भूपति-स्नेहासक्त बहुत से गला फाड़ कर रोते हैं,
कौशिक को गाली देते हैं, क्रुद्ध क्षुब्ध मति होते हैं।
सहस जनों की क्या गणना है भीड़ भयंकर आंगन में
क्षोभ और विद्रोह उफान भरता सब के कण-कण में।

राज-पुरोहित श्वेत-श्मश्रु-धर कहता—विधि की माया है,
बड़े बड़े ऋषि मुनि थक हारे, भेद न अब तक पाया है!

सूर्य देव निज किरण समेटे अस्ताचल की ओर ढले,
राजा रानी लीला गति मे अन्तपुर की ओर चले।

अन्धकार में भी प्रकाश की यह उज्ज्वल रेखा कैसी ?
भीषण विपदा मे भी सुख की स्नेह मधुर रेखा कैसी ?
सुख-दुख मन की झूठी चीजें, प्रेम बडा सबसे ऊपर,
आनन्दित रहते हैं प्रेमी कोटि-कोटि सकट सहकर।

गीत

नाम अमर बना गई, भारत की कुल-नारियाँ,
कर्तव्य-ज्योति जगा गई, चिर उजली चिनगारियाँ।
पति परमेश्वर के लिए जीवन अर्पण कर दिया,
सकट में अनुपद फिरी छोड के महल अटारियाँ!
कर्तव्य के पथ पर चढी, परवाह न की सुख दु ख की,
वज्र समान कठोर थी, फूल-सी मृदु सुकुमारियाँ।
दान, दया, और शील के जौहर क्या दिखला गई,
महक रही हैं आज भी सद्‌गुण की फुलवारियाँ।
तारा, सीता, द्रौपदी, सावित्री और अजना,
एक से एक महान थी 'अमर' सदा बलिहारियाँ।

प्रस्थान

स्वार्थ-हेतु संसार नित्य करता है अभियान
पर भूपति का सत्य के हित सुन्दर प्रस्थान।

आज उषा साकेत पुरी के लिए प्रलय बन आई है
महलों से ले झोंपड़िया तक घटा शोक की छाई है।
राजा राज्य छोड़ कर काशी जाते यह सुन कर जनता
पागल-सी दौड़ी महलों को वृद्ध युवा बालक वनिता।
भूपति-स्नेहासक्त बहुत से गला फाड़ कर रोते हैं,
कौशिक को गाली देते हैं, कुछ क्षुब्ध अति होते हैं।
सहस लक्ष की क्या गणना है भीड़ भयंकर प्रांगण में
क्षोभ और विद्रोह उछलते भरता सब के कण-कण में।

राज-पुरोहित श्वेत-श्मश्रु-धर कहता—"विधि की माया है,
बड़े बड़े ऋषि मुनि थक हारे, भेद न अब तक पाया है।

प्रकृति नटी पल पल मे क्या-क्या रग-कुरग बदलती है ?
नृप को रक, रक को राजा बना दृगों को छलती है।
आज पुष्प खिलता उपवन मे वह कल है मुरझा जाता,
चढता सूर्य सवेरे नभ मे, शाम हुए पर ढल जाता।
हरिश्चन्द्र हा कल के राजा, आज बने भिक्षुक पथ के,
कौशिक भिक्षुक बने पलक मे सचालक शासन रथ के।"

कवि कहता-"यह दुनिया क्या है ? इन्द्रजाल की माया है,
मानव ! तेरी आँखो मे यह नशा कौन-सा छाया है ?
'सुख में मानी, दुख मे कायर'—अज्ञानी हैं कहलाते,
ज्ञानी सुख मे हर्ष न करते, नही दु ख में घबराते !
दुराचार के कारण लाखो रोज रईस बिगडते हैं,
किन्तु धन्य वे सत्य-हेतु जो नृप से भिक्षुक बनते हैं।"

सूर्योदय होते ही राजा, रानी और तनय रोहित,
स्वर्ण-महल से नीचे उतरे रूप सर्वथा परिवर्तित।
रोहित, वसनाभूषण से जो परिमण्डित नित रहता था,
आज जीर्ण सा चीवर पहने दास बाल-सा लगता था।
तारा मुक्ता खचित वस्त्र औ भूषण का परित्याग किए,
उतरी राजमहल से दुर्विध दासी का-सा रूप लिए।
हरिश्चन्द्र नि शस्त्र नग्न-शिर एक मलिन चीवर धारे,
देख अयोध्यावासी हा हा—शब्द पुकार उठे सारे

उमड़ पड़ी जनता चहुँदिशि से हरिश्चन्द्र को घेर लिया
सहस-सहस कण्ठों ने जय के साथ यही निर्घोष किया—

"कौशल के सम्राट कहाँ तुम जाते हो ? हमको तज कर,
दीन हीन असहाय हमें यति क्रुद्ध साधु को अर्पित कर ?
चाहे कुछ हो प्रभो ! आपको हम न कभी जाने देंगे,
आज्ञा होते ही कौशिक को पुर से बाहर कर देंगे।

भूपतिबोले 'धैर्य धरो, अब पलट नहीं कुछ सकता है
हरिश्चन्द्र अब नहीं सत्य के पथ पर से हट सकता है।
नहीं धूलि की रेखा है जो जरा हवा से मिट जाए,
पत्थर की रेखा-सा प्रण है, क्या मजाल जो मिट जाए ?"

गीत

दृढ़ क्षत्रिय वीर कहाऊँगा
मैं अपना धर्म निभाऊँगा
प्रण को कर पूर्ण दिखाऊँगा
मैं अपना— ——।

सुख दुख का कुछ भी ध्यान नहीं
धन वैभव का अभिमान नहीं
बन भिक्षुक बनके जाऊँगा
मैं अपना— —— ।

यह राजपाट सब सपना है,
इक सत्य धर्म ही अपना है,
निज ध्येयों पै बलि जाऊँगा,
मैं अपना ।

मधु भोजन शाही छोड़ूँगा,
वन-फल से नाता जोड़ूँगा,
तरु नीचे रात बिताऊँगा,
मैं अपना ।

आकाश के तारे पृथ्वी पर,
पृथ्वी के पर्वत हो नभ पर,
पर, मैं निज पथ न भुलाऊँगा,
मैं अपना ।

भूपति ने घटो समझा कर क्षुब्ध प्रजा को शान्त किया,
राजमहल लेने को तत्क्षण कौशिक ऋषि ने दर्श दिया।
राजा, रानी, रोहित ने सप्रेम किया ऋषि को वन्दन,
विश्वामित्र चकित, अति विस्मित हुए देख निज अभिनदन।

हरिश्चन्द्र ने कहा – 'हमे आशीष दीजिए करुणा कर,
पूर्ण सफलता पाएँ अपने अङ्गीकृत प्रण के पथ पर।
प्राणों से भी प्यारी तुमको प्रजा समर्पित करता हूँ,
आशा है सुत-सम पालेंगे, आज्ञा दें, बस चलता हूँ।"

विश्वामित्र ग्लानि के कारण ऊपर सिर न उठा पाये
स्तब्ध मौन ही रहे नृपति को उत्तर कुछ न सुना पाये।

सोचा था—"भूपति को जाते अपमानित कर रोकूं गा
रानी या सुत वस्त्राभूषण पहने होंगे टोकूं गा।

अम्बा की निवृत्ति-हेतु पर यहाँ एक ही चीवर था
वह भी फटा-पुराना सीमित केवल तन ढंकने भर था।
कौड़ी भर धन पास नहीं था तीनों ही थे नग्न-चरण
कौशिक को कहने की खातिर मिला नहीं कुछ भी कारण।

कौशिक से चुप हरिश्चन्द्र ने अपना निश्चित पथ पकड़ा
जय-जय ध्वनि करता पीछे से आकुल जन-सागर उमड़ा।
शान्त-धीर-मति चलते चलते आए पुर की सीमा पर
मलय-प्रलय दो ऊंचे टीले देख खड़े रानी नृपवर।

राजा के टीले को आकर पुरवा के दल ने घेरा
महिला-दल ने रानी जी के टीले का सोचा फेरा।
राजा से कहते थे सब जन- आप यहाँ से क्यों जाएं?
कौशिक ऋषि के क्रोधानल में व्यर्थ हमें क्या झुलसाए?

अगर आपको जाना है तो साथ हमें भी ले चलिए,
आहत हृदयों को क्षत-विक्षत और अधिक अब मत करिए।
बिना आपके निर्जन वन-सी दुःखागार अयोध्या है,
निर्जन वन भी साथ आपके सुख भडार अयोध्या है।

यह राजपाट सब सपना है,
इक सत्य धर्म ही अपना है,
निज ध्येयो पै बलि जाऊँगा,
मैं अपना !

मधु भोजन शाही छोड़ूँगा,
वन फल से नाता जोड़ूँगा,
तरु नीचे रात बिताऊँगा,
मैं अपना !

आकाश के तारे पृथ्वी पर,
पृथ्वी के पर्वत हो नभ पर,
पर, मै निज पथ न भुलाउँगा,
मै अपना !

भूपति ने घटो समझा कर क्षुब्ध प्रजा को शान्त किया,
राजमहल लेने को तत्क्षण कौशिक ऋषि ने दर्श दिया।
राजा, रानी, रोहित ने सप्रेम किया ऋषि को वन्दन,
विश्वामित्र चकित, अति विस्मित हुए देख निज अभिनदन।

हरिश्चन्द्र ने कहा – 'हमे आशीष दीजिए करुणा कर,
पूर्ण सफलता पाएँ अपने अङ्गीकृत प्रण के पथ पर।
प्राणो से भी प्यारी तुमको प्रजा समर्पित करता हूँ,
आशा है सुत-सम पालेंगे, आज्ञा दें, बस चलता हूँ।"

निर्ममता कायरता सारे दोषों की जननी होती
न्याय-सिद्ध निर्ममता से ही विजय सत्य पर होती।
हाँ तो देर हुई जाती है, मुझे सत्य-पथ पर बढ़ने दें
तो मैं भी नगर बस मुझको पूर्ण प्रतिज्ञा करने दें।
प्रेम हृदय की वस्तु, बाह्य धन-परिवर्तन से क्या लेना ?
भाव यही पर रह साथ चल कर तो व्यर्थ व्यथा देना।
सब पूर्व राजा की आज्ञा लौटें अपने-अपने घर
सत्य कलंकित होगा यदि अब बढ़े कदम आगे पथ पर।
प्रेम यही है, सत्य पालिए कष्टों से भयभीत न हो
हरिश्चन्द्र तो हममें युग है, जीवन-सत्य विनीत न हो।"

भूपति का आदेश प्रजा ने रोते-रोते मान लिया
सत्य परिस्थिति जान व्यर्थ का और नहीं हठवाद किया।

उधर देवियाँ तारा के चरणों में विनती करती थीं
बार बार रो-रो कर लोचन अश्रु-वारि से भरती थीं।
"राजा ऋण से बँधे हमें असहाय छोड़कर जाते हैं
सत्य धर्म की रक्षा के हित यह सब कष्ट उठाते हैं।
दान दक्षिणा के बन्धन में बँधी नहीं तुम तो रानी !
फिर क्या हमको छोड़ जा रही बड़ी विकट है हैरानी।"

तारा प्रति ही नम्र भाव से हाथ जोड़ सब से बोली
'क्या बतलाऊँ, मेरी बहनों ! तुम तो बिल्कुल हो भोली।

हरिश्चन्द्र ने प्रेम-भरे मृदु स्वर से लघु वक्तव्य दिया,
शोक-विकल जनता-मानस को मदुपदेश कुछ श्रव्य दिया।

"कौशल के शासक होने का मैं निज भाग्य मानता हूँ,
सकट में भी आप प्रजा से शुद्ध प्रेम जो पाता हूँ।
मुझ सेवक पर प्रेम अनुग्रह-भाव आपका भारी है,
भूल न सकता हरिश्चन्द्र, पर आज वडी लाचारी है।
कौशिक को साम्राज्य दे चुका, अव कैसे मै रह पाऊँ ?
और विना ऋषि-आज्ञा कैसे साथ तुम्हे भी ले जाऊँ ?
सत्य धर्म है एक मात्र अवलम्व मानवी जीवन का,
सत्य धर्म के लिए निछावर गौरव है, सव तन, धन का।
सूर्य चन्द्र टल जायँ स्वगति से, पर न टलूँगा निज प्रण से,
कीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रभुता सव कुछ एक सत्य के कारण से।
दुराचरण मे पड वेश्या को राज्य अगर मैं दे देता,
फिर भी क्या इस भाँति आप से गौरव-आदर मैं लेता ?
कौशिक से क्या घवराहट है ? वे जगपरिचित शासक है,
क्रुद्ध भले हो, पर आखिर तो चिर-नीतिज्ञ विचारक हैं।
मेरे से भी वढकर इनके शासन में सुख पाएँगे,
शान्त रहेगे, अगर शीघ्रता वश विप्लव न मचाएँगे ?
संभव है कुछ गडवड भी हो, पर उससे मत डरना तुम,
शान्त, सत्य का आग्रह रख प्रतिरोध यथोचित करना तुम।

निर्बलता कायरता सारे दोषों की जननी होती
न्याय-सिद्ध निर्भयता से ही विजय संकटों पर होती।
हाँ तो देर हुई जाती है, मुझे सत्य-पथ पर बढ़ने दें
मोह में भी मगर बस मुझको पूर्ण प्रतिज्ञा करने दें।
प्रेम हृदय की वस्तु, बाह्य जय-परिवर्तन से क्या लेना ?
पास नहीं पर रहूँ, साथ बस कर तो स्वर्ग व्यथा देगा।
भूत पूर्व राजा की आज्ञा लौटें अपने-अपने घर;
सत्य कलंकित होगा यदि अब बढ़े कदम आगे पथ पर।
प्रेम नहीं है, सत्य पालिए कष्टों से भय भीत न हों
हरिश्चन्द्र तो इसमें खुश है, जीवन-अस्त्य विनीत न हो।"

भूपति का आदेश प्रजा ने रोते रोते मान लिया
सत्य परिस्थिति जान स्वर्ग का और नहीं हठवाद किया।

उधर देवियाँ तारा के चरणों में विनती करती थीं
बार बार रो-रो कर लोचन अश्रु-वारि से भरती थीं।

"राजा प्रण से बँधे तुम्हें असहाय छोड़कर जाते हैं,
सत्य धर्म की रक्षा के हित यह सब कष्ट उठाते हैं।
किन्तु प्रतिज्ञा के बन्धन में बँधी नहीं तुम तो रानी!
फिर क्या हमको छोड़ जा रही बड़ी विकट है हैरानी।"

तारा अति ही नम्र भाव से हाथ जोड़ सब से बोली
क्या बतलाऊँ, मेरी बहनों! तुम तो बिल्कुल हो भोली।

कौशिक का राज्याधिकार

हरिश्चन्द्र भूपति गए जिस दिन नगरी छोड़
उससे दिन साकेत में हुए और ही ओड़ !

प्रातःकाल अयोध्यावासी निद्रा से जागे ज्योंही,
पड़ा दिखाई विस्मय-कारक दृश्य एक अभिनव त्योंही।
स्थान-स्थान पर ऋषि ब्रह्मचारी गर्व-मत्त हो फिरते हैं;
गैरिक-चीवर-धारी मुण्डित जटिल सरोष विचरते हैं।
पद्मासन से बैठे कोई संध्या-वन्दन करते हैं,
पकड़ नासिका श्वास-वेग को बस स्वयम में भरते हैं।
बड़ी धाम के साथ कमण्डल ओर सभा कुछ मौन रहे;
अग्निहोत्र के लिये लकड़ियाँ कुछ पकड़ पे काट रहे।
'जय गुरुदेव' घोष के बल से गूँजा सारा गगनाङ्गण,
धीरे-धीरे सघन घरों में घुसे तपस्वी क्रोध-भरण।

नगर-निवासी मूक भाव से काण्ड देखने खडे खडे;
शाप-भीति से परिकम्पित सब, ऋषि मुनियों से कौन अडे ?

एक नागरिक अति साहस कर बोला-"आप कौन भगवन् ?
क्यों घुसते हो गृही गृहों मे ? भूल गए क्या शास्त्र-वचन ?
अगर आप वन वासी यों, हम लोगों के घर रह जाएँ ?
पुत्र, नारि, परिजन को लेकर, हम असहाय कहाँ जाएँ ?"

उत्तर मे ब्रह्मचारी बोले—"अरे मूढ, क्या कहता है ?
श्रीगुरु का साम्राज्य अखिल है, किस दुनिया में रहना है ?
शास्त्र-वचन दिखलाकर हमको नीच ! बनाता क्या लज्जित ?
अन्यायी भूपति को गुरु ने किया ब्रह्म-बल से दण्डित !
हरिश्चन्द्र के शासन मे ही तुम स्वतन्त्र रह सकते थे ?
हम ऋषियो को मन चाही कटु वाणी तुम कह सकते थे ?
कौशिक गुरु ने आज राज्य का सूत्र स्वतन्त्र सभाला है;
हम शिष्यो पर शासन का सब भार यथोचित डाला है !
आज हमी कोशल-वैभव के एक मात्र हैं अधिकारी;
मन चाहे जैसे भवनो मे रहे, मिली आज्ञा प्यारी !
खाली करदो भव्य भवन, तुम लोग कही पर भी जाओ,
हम ऋषियो के आगे अपनी व्यर्थ अकड मत दिखलाओ !"

धीरे-धीरे सभ्य नागरिक, लगे पहुँचने गाँवो मे,
हरिश्चन्द्र को करते थे सब याद प्रेम के भावो मे ।

कौशिक ऋषि ने राज-सभा में पहुँच सचिव से कहा वचन
"आप सभी अधिकारी सौंपें मेरे शिष्यों को शासन !

अधिकारी-गण ने कौशिक का पालन शीघ्र निदेश किया
शासन-सूत्र सौंप सब ऋषि को राज-सभा से कूच किया।

कौशिक ऋषि को गर्व था कि-"मैं अच्छा शासन कर लूँगा
जन्म-जात शासक हूँ अब मैं ठीक व्यवस्था कर दूँगा।"

राज्य भार जब पड़ा शीश पर शासन की कड़ियाँ उलझीं,
भूल गए पूर्वानुभूतियाँ तप-बल से न तनिक सुलझीं।
कौशल का साम्राज्य सुविस्तृत नित नूतन गड़बड़ होती,
कौशिक क्रोध क्षोभ दिखलाते और अधिक गड़बड़ होती।
नित्य नए गुरु-अभियोगों की मीमांसा करते-करते,
नाकों दम आ जाता ऋषि का उलझन हल करते-करते।

प्रजा-लोक भी ऋषि की अद्भुत मीमांसा से घबड़ाकर,
उच्छृंखल उद्दण्ड तथा अति उद्धत हुए तंग आकर।

राज्य-कार्य की झंझट से जप-तप में विघ्न लगे पड़ने,
क्रमशः ऋषि की आत्म साधना लगी अपयशों से सड़ने।

विश्वामित्र सोचते मन में 'क्या से क्या नाटक बदला ?
शुद्ध तपस्वी जीवन आकर व्यर्थ बना जाता गँदला !

तारा जिसके चरणों नीचे पुष्प बिछाये थे जाते,
आज सुकोमल पग काँटों से शोणितमय हो-हो जाते।

रोहित मात-पिता की आशाओं का केन्द्र कहाता था
मन चाहा सुख कहने से जो पहले ही पा जाता था।
आज अनाथों-सा जीवन ले कण्टक पथ पर जाता है,
बालक है चल सकता है क्या? पद-पद ठोकर खाता है।

तीनों ही जन मानवता का दिव्य मार्ग दिखला जाये
स्वर्ग-लोक-सा वैभव पल मे सत्य हेतु ठुकरा आये।
कभी हजारों वर्षों में ये दिव्य ज्योतियाँ आती है,
पाप-तिमिर से भटके जग में धर्म रङ्ग चमकाती हैं।

हाँ, तो चलते-चलते रवि भी अस्ताचल की ओर चले,
अन्धकार श्यामता विपिन मे हिंस जन्तु चहुं ओर चले।
राजा-रानी साहस के बल चलते रहे तिमिर में भी,
वज्र-प्रकृति के बने हुये हैं, भय न दुःख-सङ्कट में भी।

बालक रोहित त्रस्त हो उठा अतः वृक्ष की छाया में,
पत्तों के बिस्तर पर सोये विकट प्रकृति की माया मे।
हिंसक पशुओं से रक्षा-हित जागे नरेश्वर बड़ भागी
अपर रात्रि मे भूपति सोये धैर्य-मूर्ति रानी जागी।

प्रभु-चिन्तन से निबट चले फिर काशी नगरी के पथ पर,
प्रथम दिवस की श्रान्ति पड़ी है, पड़ते हैं पद रुक-रुक कर।
एक दूसरे से निज दुख को सभी छुपाये चलते हैं
होगी चिन्ता व्यर्थ मानसिक मस्तु, मौन ही रहते हैं।

रोहित पैदल कभी गोद में चलता चलता श्रान्त हुआ
उधर भूख की पीड़ा से तन कोमल शिथिल नितान्त हुआ।
सभा के कारण पहले तो रहा दबाए अपने को,
कब तक दाबे रखता आखिर बालक बड़ा कलपने को।

भूख लगी है माँ! खाने को बार-बार कह कर रोता,
देख विकलता मात-पिता का अबल धैर्य भी बल होता।
तारा मौखिक-आश्वासन से सुत को धीरज देती है,
पर बातों से कहीं किसी की व्यथा शान्ति कब होती है?

हरिश्चन्द्र ने दिये पुत्र को मर्म पक्व वन-फल लाकर
कब बच्चे समने थे फैंके, मौन रहा मन झुंझला कर।
सत्य-विरोधी पूर्व देव वह बात समझे सकता था,
हरिश्चन्द्र अब कहीं किस तरह, मन के भाव परखता था।

हरिश्चन्द्र को वन में खाते देखा खाद्य निर्दोष अचल
किन्तु बुभुक्षा की पीड़ा से रोहित देखा क्षुब्ध विकल।
बूढ़ा का धर रूप थाल पर रख कर मोदक की डलिया
आया एक पार्श्व से जयमय करता छलने को छलिया।

वृद्धा मोदक की डलिया को बार-बार दिखलाती है,
क्षुधा विकल रोहित के मन को बार-बार ललचाती है।
सोचा—"राजा क्षुधित पुत्र के लिये तो कुछ माँगेंगे,
आज सर्वथा निश्चित है निज राज-धर्म को त्यागेंगे।"

हरिश्चन्द्र तारा अति दृढ़ हैं, भिक्षा का सवाल नहीं,
दुःख-घटाओं में भी रवि का दब सकता है तेज कहीं?
जो सर्वदा देने के ही लिये हाथ जिनका ऊपर,
आज दुःख में पड़कर भी क्या माँगेंगे कर नीचा कर?

रोहित भी तेजस्वी क्षत्रिय-भावों में पलता आया,
जैसे मात पिता, वैसा ही सुत भी जग में कहलाया।
धीर, वीर, तेजस्वी बालक स्वयं किसी से क्या माँगे?
अगर स्वयं भी कोई दे तो ठुकरा कर सहसा भागे।

दो दिन का भूखा है रोहित क्या मजाल फिर भी माँगे,
बालक है, फिर भी रवि-कुल की मर्यादा कैसे त्यागे?
छलिया देव हार कर आखिर लज्जित मुख हो चला गया,
राजा तो क्या, रोहित-सा शिशु भी न जरा भी छला गया।

सूर्य देव चढ़ते-चढ़ते चढ़ आये मध्य गगन तल में,
प्रखर धूप के कारण ज्वाला लगी निकलने भूतल में।
तीव्र और उत्तप्त पवन भी दावानल-सा जलता है,
सन-सन करता, अङ्ग झुलसता, धूल उड़ाता चलता है।

भूपति गर्मी सह न सके आँखों में अँधियारा छाया,
मोह, कण्ठ थे शुष्क प्यास से तन डोला चक्कर आया।
मूर्च्छा खाकर पड़े भूमि पर तारा रोहित घबराये,
हा-हा की ध्वनि गूंज उठी आँखों मे अश्रु छलक आये।

तारा विचलित होते-होते सँभल गई दृढ़ साहस कर,
शीघ्र दौड़ कर इक ऊँचे से टीले पर देखा चढ़ कर।
कुछ दूरी पर दिया दिखाई एक सरोवर जल-पूरित,
तारा का सन्तप्त विकल मन हुआ हर्ष से परिपूरित।

शीघ्र दौड़ती हुई सरोवर के तट पर पहुँची रानी,
कमल-पत्र का पुटक बना कर सहसा भर लाई पानी।
रोहित इधर विमूर्च्छित नृप पर व्यजन पत्र का झलता है,
आकर देखा तो माता का स्नेही हृदय उछलता है।

शीतल जल के छींटो से भूपति की मूर्छा दूर हुई,
तारा के मन की क्या पूछो ? आज खुशी भरपूर हुई।
हरिश्चन्द्र ने सावधान हो अमृत-सा जल-पान किया,
स्वस्थ-चित्त होकर तारा का भी मुख से सम्मान किया।

"तारा तुम सचमुच देवी हो क्षत्रिय-कुल की बाला हो,
संकट मे भी धर्म न खोती दृढ़ साहस की ज्वाला हो।
अगर आज तुम विचलित होती नहीं समय पर जल लाती,
सच कहता हूँ हरिश्चन्द्र को फिर क्या दुनियाँ सकपाती।

"भ्रान्ति-मूढ था, मै तो तुमको साथ न अपने लाता था;
पत्नी के उन्नत गौरव को झझट समझ भुलाता था।
किन्तु आज तुमने नारी का दिव्य रूप दिखला दीना,
चिर भविष्य के लिये समुज्ज्वल नारि जगत का मुख कीना।"

"नाथ, तुच्छ-सी दासी को क्या इतने पर, इतना गौरव ?
कार्याधिक यश-गौरव पाकर मिलता है निश्चय रौरव।
सूझ समय पर आ जाने से, बस जल ही तो लाई हूँ,
यदि इतना भी कर न सकूँ तो व्यर्थ सङ्ग फिर आई हूँ।"

"रानी ! तुमको वन का जीवन दु:ख-पूर्ण लगता होगा,
हाँ, अवश्य यह सुख से दुख का परिवर्तन खलता होगा ?
मेरे कारण तमको भी यह दु:ख उठाना पडता है,
रोहित से प्यारे सुत को भी सकट सहना पडता है।"

"नाथ ! दु:ख की क्या कहते हैं ? सुख-दुख है खाली माया,
वाहर से सम्बन्ध नही कुछ, है अन्तर मन की छाया।
बाहर के सुख मे भी दुख की काली घटा उमडती है,
कभी वाह्य दुख में भी सुख की मधुमय गगा,वहती है।"

"नाथ ! नगर के जीवन से तो वन का जीवन सुन्दर है,
काम, क्रोध, मद की झझट से मुक्त प्रदेश, हितकर है।
भारी भरकम पुर-जीवन से कितना हल्का वन-जीवन,
वन्य प्रकृति के मुक्त पवन से स्वस्थ सबल होता तन-मन।"

वन-फल खा कर, दिन ढलते ही दम्पति का अभिमान गला,
अब की बार मधुर फल पाकर रोहित भी कुछ-कुछ सँभला।
तीनों प्राणी इसी तरह से वन-पथ के सुख-दुख सहते
काशी गंगा-तट पर आए प्रमुदित 'जयगंगे' कहते।

तीनों ने गंगा के शीतल स्वच्छ सलिल में स्नान किया
बैठ शान्ति से तट पर कुछ क्षण लहरों का आनन्द लिया।
उठती गिरती गिर कर उठती लहरें मन को भाती हैं,
सांसारिक परिवर्तन का वैराग्य-चित्र दिखलाती हैं।

गीत

गंगे तुम्हारी धारा अविराम बह रही है,
कर्तव्य शीलता का सन्देश कह रही है।
पथरों को चीर देती टीलों को चूर्ण करती
पथ की रुकावटों को दल-मल के बढ़ रही है।
आगे को जब पड़ी तो पीछे को लौटना क्या?
निज लक्ष्य पर पहुँचने निशि-दिन उछल रही है।
मिलते जो मैले नाले से पूरित नदी व नाले
अपना स्वरूप देकर सम दृष्टि रख रही है।
बहती जिधर, उधर ही होता हरा-भरा वन
जल राशि कर के अर्पण उपकार कर रही है।

मानव अगर चले इस आदर्श पर, 'अमर' हो,
गंगे, तू जिस पै इसका सुवितान तन रही है।

गीत

तुम्हारी है निर्मल यह जल-धार, गंगे!
हमारी है उज्ज्वल चरित-धार, गंगे!
हिमाचल से निकली मिली जा जलधि में,
पिता गृह से हम भी पति-द्वार, गंगे!
नहीं जाती अन्यत्र सागर को तज कर,
हमें भी स्वपति का अचल प्यार, गंगे!
यह कल-कल सभी शान्त सागर मे जाकर,
श्वशुर-घर यही हम कुलाचार, गंगे!
अलग है न अस्तित्व सागर मे मिल कर;
पुरुष-नारि हम एक आकार, गंगे!

काशी में

हरिश्चन्द्र के सत्य की है अति उज्ज्वल दीप्ति,
प्रभापूर्ण रवि तेज भी होता क्षीण-प्रतीति।

आज कौन काशी के पथ पर दीन-हीन यह जाता है
मारे सुत को साथ लिए अति रंक दृष्टि में आता है।
किन्तु अभी मुख-मंडल पर का तेज न अणु भी धुंधलाया-
जिसने देखा उसने ही आश्चर्य अमित मन में पाया।

आप बता सकते हैं क्या? यह कौन पुरुष है गुण-धारी
हरिश्चन्द्र! जिनने कौशिक को सभी सम्पदा दे डारी।
एक सहस्र का ऋण अब भी है बाकी उसको तारेंगे
दारा से बन अब रंक पर धर्म न अपना हारेंगे;
मानव चाहे कितना ही हो कैसी असह्य परिस्थिति में,
अन्तर का उद्दीप्त तेज छिपता न विपद की हुंकृति में।

मानव अगर चले इस आदर्श पर, 'अमर' हो,
गंगे, तू जिस पै इसका सुवितान तन रही है !

गीत

तुम्हारी है निर्मल यह जल-धार, गंगे !
हमारी है उज्ज्वल चरित्र-तार, गंगे !
हिमाचल से निकली मिली जा जलधि में,
पिता गृह से हम भी पति-द्वार, गंगे !
नही जाती अन्यत्र सागर को तज कर,
हमें भी स्वपति का अचल प्यार, गंगे !
यह कल-कल सभी शान्त सागर मे जाकर,
श्वसुर-घर यही हम कुलाचार, गंगे !
अलग है न अस्तित्व सागर में मिल कर;
पुरुष-नारि हम एक आकार, गंगे !

आप लोग हैं दीन किराया कहो कहाँ से पाओगे ?
इसका तो यह मतलब है, फिर भोजन-कष्ट उठाओगे ?"

"चाहे भी हो धर्मार्थ स्थान, या भोजन हम न कभी लेंगे
मजदूरी कर भोजन लेंगे और किराया दे देंगे।

"क्या रक्खा है इन बातों में व्यर्थ दुराग्रह ठीक नहीं
दीन-दशा में अहंकार का निभ सकता है तेज कहीं ?'
'अहंकार की बात नहीं है गृही धर्म का पालन है,
आदि जिनेश्वर ऋषभ देव का न्यायोचित अनुशासन है।
भिक्षा का अधिकारी मुनि है सर्व परिग्रह का त्यागी
स्वस्थ गृही यदि भिक्षा माँगे समझो उसको दुर्भागी।
पामर दुर्बल अंगहीन ही गृही पराश्रित रहता है,
स्वस्थ गृही तो निज जीवन को निज श्रम पर ही रखता है।
मैं गरीब हूँ किन्तु गृहस्थी हूँ नहीं भिखारी का जीवन,
भूखा रह कर मर सकता हूँ भ्रष्ट न होगा पर तन-मन।

'पत्नी भी न करेंगी भोजन यह तो तुम से भी दृढ़-तर,
पर बालक तो खाएगा ही इसका क्या आग्रह प्रियवर !"

"नहीं पुत्र भी खा न सकेगा पिता पुत्र में क्या अन्तर ?
एक बार भी धर्म-त्याग का मन असंस्कृत देता कर।

लक्षाधिक नक्षत्र, गगन मे निज-निज किरणे चमकाते,
किन्तु प्रभा शशि-मण्डल की फीकी न जरा भी कर पाते ।

पथिकाश्रम की शोभ बढ़ाते एक ओर नरपति आए,
दिव्य राजसी तेज अलौकिक दीन-वेश मे लिपटाए ।
सचालक ने देखा ज्योही चकित हुआ मन मे भारी,
दीन-वेष यह फिर भी अनुपम सुन्दरता कैसी प्यारी ?

"आप कौन हैं और यहाँ किस अभिप्राय से आए हैं ?
वैभव-शाली जीवन पर क्यो दुख के बादल छाए हैं ?"

"श्रम-जीवी हम, एक शब्द मे अपना अथ-इति का परिचय,
प्राप्त जीविका करने आए, स्थान चाहिए, देंगे प्रिय ?"

"बहुत ठीक है, जैसा जितना स्थान चाहिए ले लीजे,
आप अतिथि हैं, अत पूज्य, सकोच नही मनमे कीजे !"

"हम गरीब हैं, अस्तु विशिष्ट स्थान नही हमको लेना,
छोटी-सी कुटिया बतलादे, और किराया क्या देना ?"

"यहाँ किराया नही, धर्म-हित सचालित है सेवाश्रम,
दीन जनो को मुफ्त स्थान औ भोजन का चलता है क्रम ।"

"अगर किराया आप न लेंगे, और कही हम जाएंगे ।
हम गरीब हैं, किन्तु धर्म का स्थान नही अपनाएंगे ।

मेरे पत्नी होने का तब ही होगा सार्थक जीवन;
जब मैं उनको खाते ही सानन्द करूं अर्पित भोजन।

आस पास के बड़े गृहों में रानी ने मजदूरी की;
कर्तव्य मग्न कर, पानी भर कर सेवा सब की पूरी की।
गृहस्वामिनियाँ हुई हुष्ट प्रति भोजन की सामग्री दी;
रानी ने झट बना प्रेम से सर्व प्रथम राहित को दी।
आप स्वयं भूखी है पति के आने की इन्तजारी है;
पति के भोजन कर लेने पर ही पत्नी की बारी है।

गीत

धन्य तारा धन्य तेरी जिन्दगी का राज है,
धन्य पतिव्रत धन्य सेवा का सजाया साज है!
एक दिन थी जिसकी सेवा में हजारों दासियाँ
हाँ वही कौशल की रानी नौकरानी आज है!
राज्य-वैभव भूल कर कर्तव्य-पालन में लगी
मस्तु, श्रम के काम करते मे न कुछ भी लाज है!
प्राण-पति जिस पथ चलें पत्नी उसी पथ पर चले;
धाक-कारों की हृदय में गूंजती आवाज है!
हो चुका कितना जमाना फेर युग का गया,
अब भी तारा दिव्य तुझ से धन्य नारि-समाज है!

नृप की बातें सुन सचालक मन मे बहुत प्रसन्न हुआ,
धन्य-धन्य है, सकट मे भी नही धर्म अवसन्न हुआ।
अपने मुख से नही स्वय का भेद पुरातन बतलाते,
पर बातो से उच्च दशा के स्पष्ट चिन्ह हैं दिखलाते।

हरिश्चन्द्र को सचालक ने एक कोठरी दिखलादी,
और किराये की निश्चिति भी अत्याग्रह पर बतलादी।
ठीक न समझा-'सद् गृहस्थ यह और कही धक्के खाए,
कैसा ही हो क्यो न समय पर सत्य न निष्फलता पाए।

हरिश्चन्द्र तारा से बोले 'साफ करो गृह मे जाता;
भोजन की सामग्री, कुछ कर उचित परिश्रम, हूँ लाता।
भूपति गए उधर, रानी ने इधर कोठरी साफ करी,
उचित किराये पर, आश्रम से पात्र-व्यवस्था ठीक करी।

तारा ने सोचा अब मन मे-''पति नगरी मे जाएँगे;
कष्ट-साध्य श्रम कर भोजन की सामग्री कुछ लाएँगे।
सामग्री लाने पर भोजन बना खिलाया तो क्या है?
पति-सेवा मे, तारा तेरा फिर वैशिष्ट्य कहो क्या है?

श्रान्त-बुभुक्षित भी मजदूरी करने को प्रिय पति जाएँ,
हम निष्क्रिय ठडी छाया मे बैठी पत्नी सुख पाएँ।
मैं अर्द्धाङ्गिनि स्वामी की हूँ, वे राजा थे, मै रानी,
आज बने मजदूर, बनूँ मै मजदूरिनि क्या हैरानी?

आज आपकी यह सामग्री शेष रहेगी कम दिन को,
इसी तरह से चुकते चुकते चुक जायेगी कुछ दिन को।
अपने श्रम पर हमें भरोसा अब क्या चिन्ता करनी है
दोनों मिलकर काम करेंगे संकट-सरिता तरनी है।

हरिश्चन्द्र यह रानी का वक्तव्य श्रवण कर चकित हुए,
तारा की पति भक्ति शक्ति कर्तव्य-वृत्ति पर मुदित हुए।

"देवी! तुमने तो साहस की अन्तिम सीमा पार करी,
राज महल की रानी होकर मजदूरी स्वीकार करी।
सहज-दुर्बला सहृदया मृदु रमणी जग में मानी है,
किन्तु तुम्हारी श्रम सहने की क्षमता तो लासानी है।
हरिश्चन्द्र तो क्षुधा-तृषा से पथ-श्रमादि से त्रस्त हुआ,
अटल धैर्य का सुप तुम्हारा किन्तु न अणु भर ध्वस्त हुआ

देव! तुम्हारी करुणा है दासी तो केवल दासी है
धैर्य और यह साहस सब श्री चरणों का विश्वासी है।
देव आपकी हो दृढ़ता बस मेरे भी दृढ़ता भारी
मग के स्वीकृत कृति के पथ पर चलती है जग में नारी।"

धन्य-धन्य तू भारत-माता धन्य तुम्हारी सन्तति है
कैसी उज्ज्वल कान्तिमयी तव सन्तति की मति सम्मति है।
भारत का गौरव भारत की सन्तति के ही कारण है,
भीषण संकट में साहस का कैसा दृढ़ धनधारण है।

हरिश्चन्द्र भी मजदूरी कर भोजन की सामग्री ले;
आये हर्षित सुन पत्नी के पास स्नेह अतिभारी ले।

पति के आते ही तारा ने कहा—नाथ, भोजन कीजे,
दासी को करुणा के सागर, सेवा का अवसर दीजे।"

राजा विस्मित लगे पूछने—"सामग्री तो मैं लाया,
मुझ से पहले ही यह भोजन देवि! कहाँ तुमने पाया?"

"प्रभो, आप भोजन तो करलें, दृढ विश्वास दिलाती हूँ,
सब विधि न्यायोपार्जित ही यह भोजन आज खिलाती हूँ।'

पूर्ण हुआ जब दम्पति का वह स्नेह भरा सात्विक भोजन,
फिर वार्ता-वार्ता मे आया श्रम वर्णन, उसका अर्जन—

"नाथ आप भी यह सामग्री कहो कहाँ से लाये हैं,
मजदूरी से ही न? इसी पथ मैंने कदम बढाये हैं।
अगर आप मजदूर बने फिर मुझको लज्जा सहना क्या?
धर्म कर्म के, न्याय-नीति के जीवन की अवगणना क्या?
एकमात्र पति धर्म शास्त्र ने पत्नी का बतलाया है,
अस्तु, नाथ! दासी ने भोजन मजदूरी से पाया है।
गृही जनो की नीति यही है कुछ तो घर में संचय हो,
ताकि समय पड़ने पर मानव कुछ दिन तक मन-निर्भय हो।

ऋण-चिन्ता

हरिश्चन्द्र के सत्य का यह उज्ज्वल आदर्श
कभी उपेक्षा का नहीं प्रण के प्रति हो स्पर्श।

हरिश्चन्द्र की जीवन-यात्रा सुख के साथ गुजरती है,
तन पर, मन पर पूर्णतया सब श्रम की दीप्ति चमकती है।
कौशल के वैभव की छाया जरा न आती स्मृति-पथ में,
बढ़े जा रहे, सब कुछ पिछला भूल सत्य के सत्पथ में।

किन्तु दक्षिणा के ऋण का जब कभी ध्यान आ जाता है,
रोम रोम में एक प्रबल तूफान खड़ा हो जाता है।
एक सहस्र का ऋण है सिर पर, पास नहीं इक पैसा है,
निकट अवधि है, कुछ तपस्वी संकट उत्कट कैसा है?

तारा चिन्तित होती पति के मुख पर देख निराशा को
पति के साथ-साथ पत्नी भी भूली सभी सुखाशा को।

स्वर्ण-महल के वासी अब छोटी-सी कुटिया मे रहते,
रूखा सूखा भोजन पाते मजदूरी के दुख सहते।
कितना साहस, कितनी दृढता, फिर भी जरा न घबराते,
स्नेह मूर्ति पति-पत्नी दोनों दुख मे भी सुख ही पाते।

मानव आखिर मानव है, कुछ दुख मे होश नही रहता,
धर्म-कर्म के नियम भूल कर भ्रान्ति-तरंगो में वहता।
हरिश्चन्द्र, तारा तो मानव होकर भी अति मानव हैं,
सत्य धर्म के लिए हर्पयुत कष्ट सह रहे अभिनव हैं।

भिक्षा या अनुचित पद्धति से ग्रहण न करते भोजन भी,
सत्य धर्म से तन क्या डिगना, डिगना है न कभी मन भी।
सत्य कहा है सत्पुरुषो का असि-धारा-सा जीवन है,
न्याय-वृत्ति से पतित न होते सकट मे न प्रकम्पन है।

राजा कला-कुशल थे फलत काम ठीक ढंग से करते,
कार्य-कुशलता की शिक्षा नित मजदूरो को भी करते।
स्वामी और सभी श्रमजीवी भूपति का करते आदर,
कैसी भी हो दशा, गुणो से पूजा पाता है नर-वर।

पाठक ! देख रहे हैं कैसे धनी सत्य के पूर्ण हैं;
विश्व-गगन में ऊँचे उड़ते कैसे दिव्य विजय ध्वज हैं ?
जीवन ओत-प्रोत है कैसा सत्य-धर्म की विद्युत से
सब कुछ भूले धरम न भूले रहे सत्य पर प्रस्तुत से।

आज कलियुगी मनुज स्वयं ऋण लेकर भी हैं नट जाते,
देने की हो शक्ति, अँगूठा फिर भी साफ दिखा जाते !
मानवता की शुभ्र ज्योति पर अन्धकार कैसा छाया !
घर में सब कुछ रख ऊपर से चली दिवाले की माया !

हरिश्चन्द्र पर कौशिक का ऋण क्या कुछ कीमत रखता है ?
कैसा ऋण बस वचन मात्र से बँध विपत्ति में फँसता है।
यदि वह चाहे तो नट जाए, बुरा न कोई उसे कहे;
किन्तु सत्य की मूर्ति झूठ के सागर में किस तरह बहे ?

एक दिवस साहस कर भूपति बाजारा की ओर चले,
नौकर रह कर ऋण दे देंगे बस सेठों की ओर ढले
तन चलता है, किन्तु पड़ा है लज्जा का घेरा मन पर;
वस्तु विपणि के इधर-उधर से कई बार काटे चक्कर !

आखिर मन को कड़ा बना कर, एक सेठ के द्वार गया;
हरिश्चन्द्र के जीवन में था यह प्रसंग आमूल नया।
सम्मुख होते ही श्रेष्ठी ने कहा—"अरे क्या लेना है ?
तेरे जैसे भिखमँगों को नहीं मुझे कुछ देना है।

यह सुनते ही हरिश्चन्द्र के मुख पर छाई अति व्रीडा;
कोटि-कोटि वृश्चिक-दशो-सी हुई मर्म-वेधक पीडा।
कालचक्र की महिमा लखकर तिरस्कार सब सहन किया,
गर्वोद्धुर कधर श्रेष्ठी को उत्तर स्पष्ट विनम्र दिया।

"रक, बुभुक्षित हूँ, सब कुछ हूँ, किन्तु नही मै भिखमगा,
प्रलयकाल भी आजाए, पर वह न सके उलटी गगा।
क्षत्रिय हूँ, इक खास बात के लिये समय कुछ लेना है,
व्यर्थ सेठजी मुझे आपको कष्ट नही कुछ देना है।"

कहा सेठ ने—"अच्छा, जल्दी कहो तुझे जो कुछ कहना,
पर मुझसे पाने की आशा में न जरा भी तुम रहना।"

भूपति ने तब कहा—"सेठजी, नौकर मुझको रख लीजे,
क्रय, विक्रय या लिखना पढना, सेवा मनचाही लीजे।
क्षत्रिय हूँ, अतएव सर्व-विधि रक्षा भी कर सकता हूँ,
चोर और डाकू के सकट पलभर मे हर सकता हूँ।
मुझ पर कुछ ऋण चढा हुआ है, वह सब आप चुका दीजे,
जब तक हो न अदा ऋण, मुझको सेवक आप बना लीजे।
मेरा जो भी वेतन होगा, जमा स्वऋण मे कर दूँगा,
और आपसे भोजन आदिक व्यय न कभी कुछ भी लूँगा।"

"अच्छा, व्यय न तुझे कुछ लेना, बतला फिर क्या खाएगा?
भूखा रह कर कैसे अपना तू गुजरान चलाएगा?"

'भोजन वस्त्र आदि की चिन्ता मुझे नहीं बाधित करती ?
मेरी पत्नी मजदूरी पर उचित व्यवस्था शुरु करती ।

'कितना ऋण है तुम पर बतला ?' "सहस्र स्वर्ण की मुद्रा का ।
'क्या खेला था जुआ ?' नहीं मैं आदी इस अपमुद्रा का ।

'मामूली ऋण नहीं बता फिर कैसे इतना ऋण आया ?
फँसा किसी दुर्व्यसन जाल में निज सर्वस्व लुटा आया ?"

'स्वप्न-लोक मे भी न व्यसन का स्पर्श कभी होता मुझको'
मात्र दक्षिणा ऋण ब्राह्मण का कहा हुआ देना मुझको ।

दानवीर हो बड़े धुरन्धर, रूप तुम्हारा बतलाता
कैसे तुमको नौकर रक्खूँ मेरा मन है शर्माता ।"

"भाग्य-चक्र का परिवर्तन है अब क्या मुझ पर हँसिएगा
अच्छा कुछ भी कहें कृपा है नौकर तो हाँ रखिएगा !"

कैसे नौकर रक्खूँ तुमको नहीं समझ मे कुछ आता;
सहस्र स्वर्ण की मुद्राओं का ब्याज न वेतन दे पाता ।
सारे जीवन मे भी तुमसे ऋण न पूर्ण यह हो सकता;
जा अपना कर काम व्यर्थ ही काम हमारा है रुकता ।
मात्र सहस्र मुद्राएँ ले ले यदि कल को तू भग जाए;
कहाँ ढूँढते फिरें पता फिर कहीं नहीं तेरा पाए !"

यह सुनते ही हरिश्चन्द्र के मुख पर छाई अति व्रीडा,
कोटि-कोटि वृश्चिक-दशो-सी हुई मर्म-वेधक पीडा।
कालचक्र की महिमा लखकर तिरस्कार सब सहन किया,
गर्वोद्धुर कधर श्रेष्ठी को उत्तर स्पष्ट विनम्र दिया।

"रक, बुभुक्षित हूँ, सब कुछ हूँ, किन्तु नही मैं भिखमगा,
प्रलयकाल भी आजाए, पर वह न सके उलटी गगा।
क्षत्रिय हूँ, इक खास बात के लिये समय कुछ लेना है,
व्यर्थ सेठजी मुझे आपको कष्ट नही कुछ देना है।"

कहा सेठ ने—"अच्छा, जल्दी कहो तुझे जो कुछ कहना,
पर मुझसे पाने की आशा में न जरा भी तुम रहना।"

भूपति ने तब कहा—"सेठजी, नौकर मुझको रख लीजे,
क्रय विक्रय या लिखना पढना, सेवा मनचाही लीजे।
क्षत्रिय हूँ, अतएव सर्व-विधि रक्षा भी कर सकता हूँ,
चोर और डाकू के सकट पलभर मे हर सकता हूँ।
मुझ पर कुछ ऋण चढा हुआ है, वह सब आप चुका दीजे,
जब तक हो न अदा ऋण, मुझको सेवक आप बना लीजे।
मेरा जो भी वेतन होगा, जमा स्वऋण मे कर दूँगा,
और आपसे भोजन आदिक व्यय न कभी कुछ भी लूँगा।"

"अच्छा, व्यय न तुझे कुछ लेना, वतला फिर क्या खाएगा?
भूखा रह कर कैसे अपना तू गुजरान चलाएगा?"

गीत

मनुष्य जन्म मिला तोहे विषयों से मुख मोड़,
भूल न जाना ओ प्राणी भूल न जाना!

जीवन है इक लहर सिन्धु की इत आए, उत जाए,
धर्म-कर्म कुछ किया न जिसने वह पीछे पछताए;
नरक में मिले ठौर, पावे दुख अति घोर,
मन कलपाना ओ प्राणी भूल न जाना!

पाकर कुछ चाँदी के टुकड़े काहे जोर दिखाए,
कौड़ी संग चले नहिं तेरे, किस पर जोर चलाए,
आवे कोई द्वारे दुखी शीघ्र बनाना सुखी,
जग यश पाना ओ प्राणी भूल न जाना!

बड़े-बड़े राजा महाराजा आए जग पर छाए
लगा काल का चपत अन्त में ढूँढे खोज न पाए,
तू तो सीधा बन जग काहे करे छल-छल
गर्व नसाना ओ प्राणी भूल न जाना!

भक्ति भाव से झूम-झूम कर क्यों न ईश गुण गाए,
शुष्क हृदय में 'अमर' प्रेम का क्यों न सुरस बरसाए,
पाप-मल सारे छूटें दुख-द्वन्द्व सभी हटें,
दिन बन जाना ओ प्राणी भूल न जाना!

"अजी, सेठजी! क्या कहते हो? सेवा से भग जाऊँगा?
क्षत्रिय होकर क्या मैं अपने प्रण-पथ से हट जाऊँगा?
आप पूर्ण विश्वस्त रहे, मैं कौडी शेष न रक्खूँगा,
अदा करूँगा ऋण, यह जीवन सारा यहीं बिता दूँगा!"

"चल, हट, जगह छोड, धूर्त! क्या मूर्ख समझता है हमको,
और किसी को फँसा जाल में फँसा नही सकता हमको।
तेरे जैसे धूर्त-शिरोमणि, कितने आते-जाते हैं,
सज्जनता का ढोग दिखाकर माया जाल बिछाते हैं।"

बडा दु ख है, बडा कष्ट है, धनवालों! क्या करते हो?
दीन-दुखी का हृदय कुचलते, नही जरा भी डरते हो?
लक्ष्मी का क्या पता, आज है, कल दरिद्रता छा जाए;
दो दिन की यह चमक चाँदनी किस पर तुम हो गरवाए?
लक्ष्मी का वैभव मानव की आँखें अन्धी कर देता,
मक्खी, मच्छर दुनिया को खुद को गजराज समझ लेता।
सस्कृति और सभ्यता उसके पास न आने पाती है;
मानवता सब भाँति विलज्जित अपमानित हो जाती है।
धन-दौलत पाकर भी सेवा अगर किसी की कर न सका,
दयाभाव ला, दु खित दिल के जख्मो को यदि भर न सका।
वह नर अपने जीवन मे सुख शान्ति कहाँ से पाएगा?
ठुकराता है जो औरो को स्वय ठोकरें खाएगा?

भरत हरिश्चन्द्र

गीत

मनुष्य जनम सदा दौड़ विषयों से मुख मोड़,
भूल न जाना ओ प्राणी भूल न जाना।

जीवन है इक लहर सिन्धु की इत आए, उत जाए,
धर्म-कर्म कुछ किया न जिसने वह पीछे पछताए,
नरक में मिले ठौर, पावे दुख अति घोर;
मन कलपाना ओ प्राणी भूल न जाना।

पाकर कुछ चाँदी के टुकड़े काहे जोर दिखाए,
कौड़ी संग चले कब तेरे, किस पर शोर मचाए,
आवे नाहिं हारे दुखी छीन खजाना सुखी,
जग यश पाना ओ प्राणी भूल न जाना।

बड़े-बड़े राजा महाराजा आए जग पर छाए
जब काल का चपत ग्रस्त मे ढूँढे खोज न पाए,
तू तो सीधा जन जन काहे करे छल-छल
गर्व जताना ओ प्राणी भूल न जाना।

भक्ति-भाव से झूम-झूम कर क्यों न हरि गुण गाए,
शुष्क हृदय में 'भ्रमर' प्रेम का क्यों न सुरस बरसाए,
पाप-मल सारे छँटें दुख-द्वन्द्व सभी हटें,
'जिन' जस गाना ओ प्राणी भूल न जाना।

हरिश्चन्द्र अपमानित होकर वापस श्री गृह लौट गए;
एक नमूना देख लिया बस, आगे और कहीं न गए।
कुचल दिया मन के कण-कण को उस अत्युग्र अवज्ञा ने,
बडी विकट उलझन मे डाला, ऋण की दुर समस्या ने।

तारा को जब पता लगा तो मन मे शोक उमड आया,
फिर भी दृढ होकर भूपति को धैर्य-भाव ही दिखलाया।

"नाथ। विपद मे कौन किसी का? दुनिया बडी दुरंगी है,
धैर्य कीजिए, काल-चक्र की चाल विचित्र कुढगी है।
सकट के दिन सदा न रहते, सुख के भी दिन आएँगे,
काले बादल नभ मे कब तक रवि का घेरा पाएँगे?
श्रेष्ठी का कुछ दोष नही है, भला हमें वह क्या जाने?
दीन-वेष को देख कौन जन मन की प्रभुता को माने?
जग मे कहाँ किसी का परिचय-बिना समादर होता है,
वनेचरो के घर हीरो का नित्य निरादर होता है।"

तारा की श्रुति-मधुर उक्तियाँ सुनकर भूपति दुख भूले,
पति-परायण पत्नी का मृदु स्नेह भाव पाकर फूले।
किन्तु अग्नि पर रखा दुग्ध उत्तप्त अतीव उबलता हो,
जल के छींटो से कब तक के लिये शान्ति शीतलता हो?

राजा की भी यही दशा है दिल मे आग भडकती है,
ऊपर के मधु वचनो से वह शान्त कहाँ हो सकती है?

ज्यों-ज्यों अवधि निकट आती है, चिन्ता-वेग प्रबल होता;
शोक-सिन्धु में अवश साहसी भूपति भी खाता गोता।

आश्रम छूटा, मित्र छूटी चिन्ता से उन्मत्त हुआ;
हँसी-दिल्लगी छूट गई सब हृदय शोक-सन्तप्त हुआ।
तारा भी इस बार दूर पति की व्याकुलता कर न सकी;
मृग-मदप-सी बनी आप ही साहस मनमें भर न सकी।

अन्धकार ही अन्धकार अब चारों ओर नजर आया;
आशा की आभा का दुकड़े से भी चिह्न नहीं पाया।
राज महल को तजने से भी धैर्य नहीं जो भंग हुआ
पति को चिन्ता-ग्रस्त देख, पर, आज रंग बदरंग हुआ।

बार-बार प्रभु के चरणों मे दीन प्रार्थना करती है;
कुछ रोदन से कुछ चिन्तन से मन को हलका करती है।

हरिश्चन्द्र अपमानित होकर वापस ही गृह लौट गए;
एक नमूना देख लिया बस, आगे और कहीं न गए।
कुचल दिया मन के कण-कण को इस अत्युग्र अवज्ञा ने;
बडी विकट उलझन मे डाला, ऋण की क्रूर समस्या ने।

तारा को जब पता लगा तो मन मे शोक उमड आया;
फिर भी दृढ होकर भूपति को धैर्य-भाव ही दिखलाया।

"नाथ! विपद मे कौन किसी का ? दुनिया बडी दुरंगी है,
धैर्य कीजिए, काल-चक्र की चाल विचित्र कुडंगी है।
सकट के दिन सदा न रहते, सुख के भी दिन आएँगे,
काले बादल नभ मे कब तक रवि का घेरा पाएँगे ?
श्रेष्ठी का कुछ दोष नही है, भला हमें वह क्या जाने ?
दीन-वेष को देख कौन जन मन की प्रभुता को माने ?
जग मे कहाँ किसी का परिचय-बिना समादर होता है;
वनेचरो के घर हीरा का नित्य निरादर होता है।"

तारा की श्रुति-मधुर उक्तियाँ सुनकर भूपति दुख भूले,
पति-परायण पत्नी का मृदु स्नेह भाव पाकर फूले।
किन्तु अग्नि पर रखा दुग्ध उत्तप्त अतीव उबलता हो,
जल के छीटो से कब तक के लिये शान्ति शीतलता हो ?

राजा की भी यही दशा है दिल मे आग भडकती है,
ऊपर के मधु वचनो से वह शान्त कहाँ हो सकती है ?

बार-बार दृढ़ होकर भूपति निज मन को समझाता है;
ऋण-चिन्ता का शल्य चित्त से तदपि न छूटने पाता है।

भोजन का है समय पात्र में भोजन लाई है रानी;
भूपति चिन्तातुर क्या खाएँ बड़ी विकट है हैरानी।
खाने की क्या बात? हाथ से छूने तक का काम नहीं;
मन की व्याकुलता में मिलता भोजन में आनन्द नहीं?

तारा के नेत्रों से अविरल बहती हन्त! अश्रु-धारा;
ज्वालामुखी हृदय में फटता शून्य चित्त मण्डल सारा।
रोहिताश्व निःस्तब्ध मूक-सा खड़ा कुटी के कोने में;
साथ दे रहा है माता का, क्षुब्ध समाकुल रोने में।

विश्वामित्र द्वार पर इतने ही में आकर ललकारे;
वज्रपात सम तीनों प्राणी काँप उठे भय के मारे।
की न प्रतीक्षा एक दिवस की ऐसा अविश्वास छाया;
वो निर्दय! निष्करुण! तपस्वी! झट काशी दौड़ा आया।

हरिश्चन्द्र ने शीश सँभलकर किया प्रणत विधिवत वन्दन;
कर ऐंठा कर कौशिक ने झट किया घोर स्वर से गर्जन!
"रहने दे बस भक्ति-प्रक्रिया बात दक्षिणा-ऋण की कर;
नाश राज्य का करके ऋषि को खूब सताया जी भरकर।
सहन किया बस अब न सहूँगा अधिक सताकर क्या लेगा?
मास-पूर्ति में कितने दिन हैं शेष? दक्षिणा कब देगा?

विश्वामित्र का तकाजा

त्यागी, योगी, सद्‌गुणी, वन्दनीय विद्वान्;
दुराग्रह के फेर मे बन जाता शैतान।

गगा की बहती जल-धारा, एक मिनट को रुक जाये;
संभव है, गतिमान पवन भी चन्द श्वास को थम जाये।
कालचक्र निज निश्चित गति मे, पर विश्राम नही लेता,
पल, पलार्द्ध, या क्षण, क्षणार्द्ध का भी अवकाश नही देता।

समय, किसी की कभी जगत मे नही प्रतीक्षा करता है,
एक बार निश्चित कर लीजे, फिर आ स्वय धमकता है।
हरिश्चन्द्र ने ऋण-शोधन के लिये न इक पैसा पाया,
ऋण-परिशोध-अवधि का अन्तिम दिवस किन्तु सहसा आया।

आज भूप की हृदय-व्यथा ने उग्र रूप धारण कीना,
प्रलय-काल-सा अन्धकार चहुं ओर, हुआ दुर्भर जीना।

बार-बार दृढ़ होकर भूपति निज मन को समझाता है;
ऋण-चिन्ता का शल्य चित्त से तदपि न हटने पाता है।

भोजन का है समय, पात्र में भोजन लाई है रानी;
भूपति चिन्तातुर क्या खाएँ बड़ी विकट है हैरानी।
खाने की क्या बात? हाथ से छूने तक का काम नहीं;
मन की व्याकुलता में मिलता भोजन में आनन्द नहीं?

तारा के नेत्रों से अविरल बहती हन्त! अश्रु-धारा;
ज्वालामुखी हृदय में फटता क्षुब्ध चित्त मण्डल सारा।
रोहिताश्व निःस्तब्ध मूक-सा बैठ कुटी के कोने में;
साथ दे रहा है माता का, क्षुब्ध भयाकुल रोने में।

विश्वामित्र द्वार पर इतने ही में आकर ललकारे;
वज्रपात सम तीनों प्राणी काँप उठे भय के मारे।
की न प्रतीक्षा एक दिवस की ऐसा अविश्वास छाया;
ओ निर्दय! निष्करुण! तपस्वी! झट काशी दौड़ा आया।

हरिश्चन्द्र ने शीघ्र सँभलकर किया प्रणत विधि से वन्दन;
कर फैला कर कौशिक ने झट किया घोर स्वर से गर्जन।

"रहने दे बस भक्ति-प्रक्रिया बात दक्षिणा-ऋण की कर;
दान राज्य की झञ्झट ऋषि को खूब सताया जी भरकर।
सहन किया बस अब न सहूँगा अधिक सताकर क्या लेगा?
मास-पूर्ति में कितने दिन हैं शेष? दक्षिणा कब देगा?"

विश्वामित्र का तकाजा

त्यागी, योगी, सद्गुणी, वन्दनीय विद्वान्;
दुराग्रह के फेर में वन जाता शैतान।

गगा की वहती जल-धारा, एक मिनट को रुक जाये,
संभव है, गतिमान पवन भी चन्द श्वास को थम जायें।
कालचक्र निज निश्चित गति मे, पर विश्राम नही लेता,
पल, पलार्द्ध, या क्षण, क्षणार्द्ध का भी अवकाश नही देता।

समय, किसी की कभी जगत मे नही प्रतीक्षा करता है,
एक बार निश्चित कर लीजे, फिर आ स्वय धमकता है।
हरिश्चन्द्र ने ऋण-शोधन के लिये न इक पैसा पाया,
ऋण-परिशोध-अवधि का अन्तिम दिवस किन्तु सहसा आया।

आज भूप की हृदय-व्यथा ने उग्र रूप धारण कीना,
प्रलय-काल-सा अन्धकार चहुँ ओर, हुआ दुर्भर जीना।

"राजन ! मैं निर्द्वन्द्व तपस्वी हूँ मत तप में विघ्न करो,
आज अवधि है पूर्ण शीघ्र इस ऋण-शोधन का प्रबन्ध करो।
अब है कठिन तुम्हारे पीछे-पीछे अधिक घूम सकना,
साधु हूँ बस भला न लगता है इससे बकना झकना।"

"बार-बार कर व्यङ्ग प्रश्न क्यों ऋषिवर लज्जित करते हो?
छिपा हुआ कुछ नहीं आप से व्यर्थ तिरस्कृत करते हो?
कौड़ी भी लेकर न अयोध्या नगरी से मैं आया हूँ,
निराश्रय रिक्त कर पत्नी-पुत्र साथ मे लाया हूँ।
भोजन की भी नहीं व्यवस्था मजदूरी करके खाते,
आप बताएँ सहस्र स्वर्ण मुद्रा का द्रव्य कहाँ पाते?
मैं तो मानव हूँ देवों को भी कुछ कम यह विपत नहीं,
कृपा कीजिए, समय सुझिए मर्म-वेदना उचित नहीं"

'अच्छा राजन्! मैं प्रसन्न हूँ स्पष्ट बात कह दी तुमने,
अन्दर की चिर-बद्ध धूर्तता आज प्रकट कर दी तुमने।
अगर प्रथम ही कह देता तो फिर क्या यह झगड़ा होता,
वैभव-शाली राजमुकुट का क्षेम नहीं बिगड़ा होता?
मिथ्या माया मे इतने दिन व्यर्थ भ्रान्त चक्कर खाया,
आज मिली निष्कृति क्षत्रिय का धन्य भाग्यपरिचय पाया।
अरे सत्य की डींग हाँकते जरा न तुम शरमाते थे,
इसी सत्य पर क्या बढ़-बढ़ कर उस दिन ऐंठ दिखाते थे?"

हरिश्चन्द्र क्या उत्तर देते ? नत मस्तक हो खडे रहे,
ग्रन्तर मन में व्याकुलता के भाव भयकर ग्रडे रहे।
हरिश्चन्द्र ग्राजन्म गोद में सुख की सोने वाले थे,
ऋण की विकट यन्त्रणाग्रो के समझे नही कसाले थे।
किन्तु ग्राज हा मर्म-मर्म मे पीडा थी कितनी भीषण!
गिरे जा रहे थे पृथ्वी पर व्याकुलता बढती क्षण-क्षण!

"हाय ग्राज है दर दर का भिखमगा भी ग्रच्छा हम से,
रूखा-सूखा खा लेता है, किन्तु मुक्त ऋण के गम से!
ग्रगर ग्राज में ऋणी न होता तो इस पर्ण कुटी मे ही,
कष्ट झेलकर भी ग्रानन्दित रहता इस त्रिपुटी मे ही!
दुख से, सुख से किसी तरह से जीवन-शेष बिता देता,
ग्रपमानो की वर्षा ग्रपने मस्तक पर न कभी लेता।"

हरिश्चन्द्र को मौन देखकर वोले फिर कौशिक ऋषिवर,
"दानी हरिश्चन्द्र क्यो चुप हो? ग्ररे तनिक तो दो उत्तर?
एक मास में ऋण-शोधन की गर्व-प्रतिज्ञा पूण करो,
ग्राज ग्राखिरी दिन है, क्षत्रिय-धर्म न ग्रपना चूर्ण करो।"

हरिश्चन्द्र ग्रब भी नीरव था किंकर्तव्य-विमूढ खडा,
दृष्टि भूमि-तल भेद रही थी, उत्तर कुछ ना सूझ पडा।
वडी कठिनता से ग्रनुनय कर एक मास का समय लिया,
वह भी ग्राज समाप्त प्राय है, ऋण-शोधन कुछ भी न किया।

"भगवन्! क्या ऋण की कहते हैं? ऋण अवश्य ही देना है,
भला आपसे सन्त का ऋण मार, नरक क्या लेना है?
अगर पास कुछ होता तो इन्कार नहीं था देने में,
असमर्थ हैं शेष समर्पित चरणों के धो-लेने में।
जबकि राज्य के देने में भी देर न की अब क्या करते?
आप देखिए, रिक्त-हस्त हैं, करते भी तो क्या करते?
करुणा सागर! क्षमा कीजिए अवधि और कुछ दे दीजे
ब्याज सहित फिर सभी दक्षिणा कौड़ी-कौड़ी ले लीजे।
आप तपस्वी कोपानल से भस्म हमें कर सकते हैं
पर इससे क्या खोयी अपनी ऋण-धन से भर सकते हैं?"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले—"धन्य-धन्य तुम भी बोली?
धूर्त शिरोमणि पति-पत्नी की मिली खूब सुन्दर टोली!
पास तुम्हारे है कि नहीं है, मुझको इससे क्या मतलब?
अवधि एक पल की न बढ़ेगी अभी दक्षिणा लेनी अब।"

"आप सन्त हैं बिना बात ही क्यों इतने क्रोधित होते?
चिर-संचित निज तप साधना क्यों अशान्त बनकर खोते?
आप महाजन ऋणी आपके हम सम्बन्ध मधुर कितना?
कुपित प्रश्न तो रहा दूर, कर क्रोध न करें विकृत इतना।
पास हुए पर अगर न देते फिर था क्रोध उचित करना,
व्यथित-हृदय को कटु-वाणी से उचित न और व्यथित करना।"

"भगवन् ! क्या कहते है ? इसमें कौन धूर्तता मेरी है ?
सत्य परिस्थिति वर्णन करदी, क्या जघन्यता मेरी है ?
अगर कहो तो हृदय चीर कर दिखला दू अपना तुमको,
झूठ, दभ, मिथ्या का अणु भी दाग न मिल सकता तुमको।
हरिश्चन्द्र सब खो सकता है, सत्य नही वह खोएगा,
सत्य-पूर्ति के लिए यत्रणा कोटि-कोटि, शिर ढोएगा।
अब भी क्या बिगडा है स्वामी पूर्ण तुम्हारा ऋण होगा,
हरिश्चन्द्र कर सत्य-धर्म की रक्षा आज अनृण होगा।"

"रहने दे इन बातो में क्या रक्खा है, खाली हठ है,
काल-चक्र शिर घूम रहा है, फिर भी कूद रहा शठ है।
सत्य-वीरता का हाँ, अब भी नशा न मन से उतरा है,
कौशिक के प्रलयकर तप का क्या न तुझे कुछ खतरा है ?

समझा क्या है तूने मुझको, बिगडा बहुत बुरा हूँ मैं,
लल्लो-चप्पो मुझे न अच्छी लगती, स्पष्ट खरा हूँ मैं।
अगर चुकाया ऋण न आज तो तुम्हे भस्म कर दूंगा मैं,
रवि के छुपते ही रवि-कुल का नाम खत्म कर दूंगा मैं।"

कौशिक का मुख-मण्डल भीषण देख हुई कम्पित तारा,
एक बार तो हुआ पूर्ण अवसन्न देह का बल सारा।
किन्तु शीघ्र सँभली मानस मे दौडी साहस की बिजली,
हाथ जोड कर, नम्र भाव से करी प्रार्थना नपी तुली।

"भगवन्! क्या ऋण की कहते हैं? ऋण अवश्य ही देना है,
भला आपसे सत्ता का ऋण मार, नरक क्या लेना है?
अगर पास कुछ होता तो इन्कार नहीं था देने में,
अणुमात्र है देर समर्पित चरणों के धो-लेने में।
जबकि राज्य के देने में भी देर न की अब क्या करते?
आप देखिए, रिक्त-हस्त हैं, करते भी तो क्या करते?
करुणा सागर! क्षमा कीजिए, अवधि और कुछ दे दीजे
ब्याज सहित फिर सभी दक्षिणा कौड़ी-कौड़ी ले लीजे।
आप तपस्वी कोपानल से भस्म हमें कर सकते हैं
पर, इससे क्या भोली अपनी ऋण-धन से भर सकते हैं?"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले—"धन्य-धन्य तुम भी बोली!
मूर्ख शिरोमणि पति-पत्नी की मिली खूब सुन्दर टोली!
पास तुम्हारे है कि नहीं है, मुझको इससे क्या मतलब?
अवधि एक पलकी न बढ़ेगी अभी दक्षिणा लेनी अब!"

"आप सन्त हैं बिना बात ही क्यों इतने क्रोधित होते?
चिर-संचित निज तप-साधना क्यों अशान्त बनकर खोते?
आप महाजन ऋणी आपके हम सम्बन्ध मधुर कितना?
कुशल प्रश्न तो रहा दूर, कर क्रोध न करें विह्वल इतना।
पास हुए पर अवसर न देते फिर वह क्रोध उचित करना,
व्यथित-हृदय को कटु-वाणी से उचित न और व्यथित करना।"

"मैं तुमसे ऋण मांग रहा हूँ, नही ज्ञान-भिक्षा लेता;
करुणावश ही चुप हूँ, वर्ना भस्म कभी का कर देता।
जिह्वा क्या है, कैंची चलती, बहुत बोलना आता है,
कौशिक का तो तुमसे बातें करते दिल घबराता है।
तब तो हठ-वश राज्य दे दिया और दक्षिणा की स्वीकृत;
आज रो रहे, तब न विचारा, कैसी है जडता निन्दित!
अगर नही कुछ देने को तो क्षमा, दोष स्वीकार करो;
राज्यपाट वापस देता हूँ क्यो नाहक दुख कष्ट भरो?"

"क्षमा करें, मैं स्पष्ट बता दूँ, व्यर्थ न भ्रम मे रहिएगा,
सत्य-त्याग की बात छोड कर और भले कुछ कहिएगा।
अद्यावधि क्या-क्या अति भीषण कष्ट सहे जिसके कारण,
आज त्याग दें उसी सत्य को, बात नही यह साधारण!
राज्य प्राप्ति का लोभ न उनको केवल लोभ सत्य का है,
क्या जागृत, क्या स्वप्न, सर्वदा आग्रह अटल सत्य का है।"

हरिश्चन्द्र भी सत्य-त्याग की बात श्रवण कर क्षुब्ध हुए;
कौशिक ऋषिवर से बोले यो सत्य-सूत्र मे बद्ध हुए।

गीत

मैं कैसे समुज्ज्वल सत्य का आदर्श भुला दूँ?
हाँ क्यो कर पतन के गर्त मे अपने को गिरा दूँ?

दीप्यमान अब भी है जिसकी विजय ध्वजा,
गौरव क्या सूर्य-वंश का मिट्टी में मिला दूँ ?
सर्वस्व भेंट दे दिया जिस सत्य के लिए;
क्या आज शीश सत्य का इस क्षण पै झुका दूँ ?
घबरा के घोर संकटों से क्या सत्य छोड़ूँगा;
वेदी पै सत्य धर्म की यह शीश चढ़ा दूँ !
मर्यादा चन्द्र सूर्य की अव्यवस्त भले हो
सम्भव नहीं मैं सत्य से अपने को डिगा दूँ !

अब क्या था ऋषि हुए और भी गर्म क्रोध-कंपित स्वर में—
बोले मानों बिजली कड़की घोर गरजते जलधर में।
"हाँ अभिमान अभी बाकी है ऐंठ न मन की निकली है
स्थापित भूत सत्य का शिर पर, शक्ति समझ की हर ली है।

पकड़े रहिए पूँछ सत्य की मुझे छुड़ा कर क्या लेना ?
सौ बातों की एक बात है, बोल दक्षिणा कब देना ?
'हाँ-हूँ ना ना' का अभिनय यह देख न सकता हूँ मैं और,
शीघ्र दक्षिणा दे दो; वर्ना त्रिभुवन में न मिलेगा ठौर !

तारा ने अति नम्र भाव से हाथ-जोड़ कर प्रणति करी
कातर कण्ठ स्वर से कौशिक ऋषिवर से यों विनति करी !
"दीनबन्धु करुणा के सागर, क्षमा कीजिये कुपित न हो;
आप सन्त हैं, हम धर्मपथी मर्यादा से पतित न हों।

प्रश्न नही है यहाँ मुकरने का, मजलूमी है उलझन !
पास नही है कौडी तक भी, सहस स्वर्ण मुद्रा का ऋण ?
अगर नही विश्वास आपको अभी तलाशी ले लीजे,
अन्दर जाकर कुटिया मे से जो मन चाहे ले लीजे ।
आप अनुभवी, ज्ञानी, योगी, दयाभाव हम पर लाएँ,
ऋण-मोचन का, सत्यत्याग के सिवा, मार्ग कुछ बतलाएँ ?"

"तारा मैं समझा था पहले-तुम कुछ तत्त्व परखती हो,
बुद्धिमती हो, समझदार हो, नही अधिक हठ रखती हो।
आज चल गया पता कि तुम तो भूपति से भी बढकर हो,
बाहर कोमल, किन्तु वज्र-सी कठिन हृदय के अन्दर हो ।
भूपति यदि कुछ माने तो भी तुम न मानने देती हो,
सत्य-सत्य की रट में ऋण का हल न समझने देती हो ।
क्या उपाय बतलाऊँ, तुम हो पतिव्रता पति-हितकारी,
क्यो न स्वय को बेंच मेट दो भूपति की विपदा सारी ।"

तारा यह सुनकर न जरा भी क्षुब्ध तथा सन्त्रस्त हुई,
आलोकित हो उठा कर्म-पथ, अँधियाली विध्वस्त हुई ।
अगर आज की नारी होती मुँह बिचका गाली देती,
साथ सकटापन्न प्राण-पति की भी खूब खबर लेती ।

"धन्य धन्य, श्रद्धेय ऋषीश्वर ! ठीक मार्ग बतलाया है,
ऋण-परिशोधन की गुत्थी का सिरा समझ में आया है ।

भूलेगी उपकार आप का नहीं स्वप्न में भी तारा,
कोटि कोटि चरणों में वन्दन मेट दिया संकट सारा।
अभी आपका ऋण चुकता है, रवि के छिपने से पहले
तारा पति को मुक्त करेगी भले कोटि संकट सहले।"

तारा का मुख चन्द्र हर्ष की दिव्य ज्योति से चमक उठा
रोम-रोम में नवोत्साह का नाद जोर से भमक उठा।

कौशिक चकित विस्मित मन में मारि नहीं यह तो है शक्ति
रोष-असेष का नाम नहीं है, कैसी अनुपम पति की भक्ति।

आत्म-विक्रय

हरिश्चन्द्र का सत्य पर कितना दृढ विश्वास,
बने स्वयं को बेच कर भगी के घर दास।

भारतीय इतिहास-जगत मे यह इक अमर कहानी है,
कालचक्र की प्रखर प्रगति भी मेट न सकी निशानी है।
क्या गांवो, क्या शहरो में सब ओर सत्य महिमा फैली;
हरिश्चन्द्र की जीवन-रेखा कभी नही होगी मैली।

केवल वचन मात्र का प्रण है, इस पर राज्य विभव छोडा,
वश परम्परा-प्राप्त स्वर्ण के आसन से नाता तोडा।
सत्य-धर्म की रक्षा के हित कष्टो से न झिझकता है,
कौशल का सम्राट आज सानन्द विपणि में विकता है।

तारा ने कौशिक का ज्योही कटुक व्यङ्ग स्वीकार किया,
दासी बन कर सत्य पूर्ति का अग्नि-मार्ग स्वीकार किया।

हरिश्चन्द्र के मन पर त्योंही घोर वज्र विनिपात हुआ,
मूर्छा खाकर पड़ा धरणि पर मानों पक्षाघात हुआ !

मानव आखिर मानव है, सहसा न कष्ट सह सकता है,
देख स्वपत्नी बिकते आखिर कौन अचल रह सकता है ?
हरिश्चन्द्र की आँखें निष्प्रभ दृष्टि-शक्ति परिभ्रम हुई,
अङ्ग-अङ्ग की अखिल चेतना-शक्ति सर्वथा सुप्त हुई।

तारा की आँखों में पति की दशा देख आँसू आए,
रोहित चीख उठा हा उसके कोमल तन-मन कुम्हलाए !
रानी की परिचर्या से जब दूर मूर्च्छना हुई जरा,
हरिश्चन्द्र तारा से बोले शोकानल आकण्ठ भरा !

'तारा ! तुम क्या कहती हो यह ? क्या अपने को बेचोगी ?
कौशल की सम्राज्ञी दासी बन कर संकट झेलोगी ?
तुम्हें बेचकर कर्ज चुकाऊँ मुझसे यह न कभी होगा,
पत्नी-विक्रय के अघ से तो अच्छा मरना ही होगा।

'अर्थी राजा अब भी तेरा गर्व न ठण्डा हो पाया,
नहीं सत्य की चिन्ता पत्नी-विक्रय से है घबराया।
अभी हुआ क्या जीवन-नौका दुख-सिन्धु में डूबेगी,
सत्यिपता की अकड़ देखना, कैसे कण-कण टूटेगी ?"

"नाथ ! धर्म क्या बिकने में है ? सत्य-धर्म का पालन है,
कैसे भी हो प्रण की रक्षा करना ही तो जीवन है।

आप भला कब मुझे बेचते ? मै तो खुद ही बिकती हूँ,
अर्द्धाङ्गिनि हूँ अपना आधा ऋण तो मैं दे सकती हूँ।
प्राणेश्वर ! अब तो बस दिल पर पत्थर रखना ही होगा,
कौशिक ऋपिवर भी सच्चे हैं, ऋण तो भरना ही होगा।"

"ऋण से तो इन्कार नही है, दूँगा, दूँगा फिर दूँगा,
ऋपिवर के चरणो मे अपना शीश काट कर रख दूँगा,
जगमे जो भी अधमाधम अति निन्द्य कर्म हो करवाएँ,
क्षमा करें, पर तारा-मेरे जीते जी मत विकवाएँ।"

"अरे मूढ ! कुछ होश नही है, मन आया सो बकता है,
मैं बिकवाता हूँ तारा को, कौन विज्ञ कह सकता है ?
ऋण-परिशोधन तुझे न करना, दम्भ पूर्ण अभिनय करता,
उलटा दोष मुझे देता है, जरा नही मन में डरता।

हमे पडी क्या, कुछ भी कर तू ले बस हम तो चलते हैं,
किन्तु देखना, सत्य भग के क्या परिणाम निकलते हैं ?"
"प्रभो ! कहाँ जाते हैं ? पति को पाप-पक में मग्न किये;
क्षमा कीजिए, दया कीजिए, जरा ठहरिए, शान्ति लिए।

अभी आपका ऋण चुकता है, ऋण से तो इन्कार नही,
प्रभो ! विपति मे पडकर मानव रह सकता है स्वस्थ कही ?
किसी तरह से भी मैं अपने जीवित रहते पति-यश पर,
लगने दूँगी नही स्वप्न में अपयश की रेखा अणुभर।"

'हरिश्चन्द्र क्या सोच रहे हो ? निज पत्नी के प्रति देखो
अबला होकर भी साहस की कैसी प्रखर प्रगति देखो !
सत्य पूर्ति के लिये तुम्हारी तरह न बातें करती है,
दासी बनती है कष्टों में पड़कर तनिक न डरती है।
इस पर कुछ भी माँग नहीं है, पतिव्रता का जीवन है,
एक तुम्हारे लिए समर्पित करती अपना तन-मन है।

'प्रभो ! अयोध्या नगरी का वह स्वर्ग सदृश वैभव छोड़ा
जो कुछ आज्ञा हुई शीघ्र की पालन तनिक न मुख मोड़ा।
किन्तु आज यह काण्ड भयङ्कर देख नहीं मैं सकता हूँ,
तारा भी' दासी ! यह दारुण दुख कैसे सह सकता हूँ !
नित्य हजारों दास-दासियाँ जिसकी सेवा करते थे
पुष्प-सुगन्धित मणि-मुक्ता मृदु भोग श्रान्ति को हरते थे।
आज वही तारा क्या दासी बन कर कष्ट उठाएगी;
यह असह्य है सूर्य-वंश की कीर्ति नष्ट हो जाएगी !
आप बताएँ क्या यह सम्भव ? तारा दासी हो सकती ?
मैं जब तक हूँ विद्यमान, यह दुर्घटना क्या हो सकती ?
ऋण का क्या है प्रश्न ? विपत्ति में मुझे बेच डालें भगवन्।
जैसे भी चाहें वैसे ही कर लीजे ऋण का शोधन।

"कैसा वज्र-शठ है, अब भी नहीं राज-मद नष्ट हुआ;
कौड़ी तक भी नहीं पास में सभी तरह से भ्रष्ट हुआ।

गर्वोद्धुर मस्तक को ऋण का भार अवस्तन करता है,
पता नही, फिर भी यह किस पर आत्म विकत्थन करता है?
हरिश्चन्द्र ! कुछ सोच समझ, इक ओर मानसम्मान खडा,
और दूसरी ओर कर्ज का महापाप सन्ताप कडा !
बोलो, इन दोनो मार्गो मे वरण किसे तुम करते हो ?
ऋण देते हो, याकि आज निजमुख से माफ मुकरते हो ?"

"प्राणनाथ ! अब संकल्पो की उलझन मे न अधिक उलझें !
व्यर्थ झिझक दें छोड, अभी बस सकल समस्याएँ सुलझें !
जीवन में जिसकी न स्वप्न में कभी कल्पना भी आई,
आज वही कर्तव्य मार्ग में स्पष्ट विकट घटना पाई।
मेरी क्या चिन्ता है ? अब मैं कहाँ राजरानी, स्वामी !
आप बने मजदूर, आपकी मैं मजदूरानी, स्वामी।
वृथा भूत के सुख स्वप्नो के परिदर्शन का अब क्या फल,
जीवन वर्तमान है उस पर चलते सभी सबल निर्बल।
भूल जाइये पिछली बातें, अब हम नाथ ! भिखारी हैं,
शाप ग्रस्त, दुःख से पीडित साधारण नर-नारी हैं।
अब न हमारे मिलने की इस जीवन में कुछ भी आशा,
अब तो अग्रिम जीवन मे ही सभव दर्शन की आशा !
यह दुख का है समय, किन्तु है सत्य-पूर्ति की शुभ-वेला,
रवि के रहते ऋण न चुका तो, होगी सच की अवहेला।"

तारा प्रति उद्विग्न-नयन से हरिश्चन्द्र के मुख की ओर—
लगी देखने प्रतिवाणी की प्रत्याशा से शोक-विभोर !
तारा की चिर-मधुर मूर्ति की कटु विच्छेद—कल्पना से
हरिश्चन्द्र का हृदय त्रस्त हो उठा शोक की घटना से।

"प्राणा के रहते न कभी भी मेरे मुख से वह वाणी,
निकल सकेगी जिसको सुनना चाह रही तुम कल्याणी !
त्रिभुवन के वैभव का मेरे निकट जरा भी मूल्य नहीं
मेरे लिए एक तुम ही हो परम, तुम्हारे तुल्य नहीं !
प्राण वल्लभे ! तव सुखार्थ सर्वस्व निछावर कर दूं गा,
प्राणों की भी बलि दे दूं गा कभी नहीं कुण्ठित हूंगा।"

"प्रियतम ! प्राणनाथ ! परमेश्वर ! क्षमा बड़ी है दासी पर,
धन्य भाग्य हैं प्रभम स्नेह की धारा बहती दासी पर।
मेरा धर्म-कर्म सब तुम हो, मेरे जीवन मेरे धन !
जन्म-जन्म में भी दासी का प्रभु चरणों मे हो बन्धन।
सदा आपके सुख मे ही सुख मेरी आत्मा पाती है;
कैसा भी हो समय आपका पथ निश्चल अपनाती है।
नाथ आपका मस्तक यदि वह अपमानित हो झुक जाये,
मगर नाथ उज्ज्वल चरित्र पर दाग जरा भी लग जाये।
तो फिर रवि-कुल का वह गौरव प्रभाहीन हो जायेगा
कोटि-कोटि वर्षों से रक्षित सुयश क्षीण हो जायेगा।

अपने जीते जी न आपका यशोनाश मैं देखूँगी,
बिना आपकी अनुमति के ही मैं अपने को बेचूँगी।
अगर आपके गौरव की मैं रक्षा कुछ भी कर पाऊँ,
तो मैं पत्नी होने का निज धर्म सफल कुछ कर जाऊँ।
पशु-समान बिक जाने पर भी सुख अनन्त मुझको होगा,
नाथ! न लक्ष्य प्राप्ति में रोकें, दुख अनन्त मुझको होगा।"

भूपति से जब मिली न आज्ञा चला स्वयं रानी तारा,
आपणिकों के पात्र आदि का कार्य शीघ्र निबटा सारा।

रोहित रुदन मचाता पीछे चला, साथ ही भूपति भी,
क्रोध-मूर्ति प्रत्यक्ष, चले श्रीमान हठी कौशिक यति भी।

सूर्य देव की प्रखर रश्मियाँ, तप्त रूप तज शान्त बनी,
यत्र-तत्र काशी की सडकों पर थी मानव-भीड ठनी।

दास-चिन्ह-अनुरूप शीश पर तृण रख कर तारा रानी;
आई ज्यों ही मध्य विपणि में, फैली त्यों ही हैरानी।

'कैसी दासी, यह तो कोई ऊँचे कुल की नारी है?
क्या बिकती है? बस रहस्य है, दुनियाँ की मक्कारी है।"
पूछे पर जब पता लगा तो सभी लोग साश्चर्य हँसे,
"कौन सहस्र स्वर्ण मुद्रा दे इस झंझट में व्यर्थ फँसे।"

कहता कोई कौशिक से—"तुम साधु, किस पचड़े में हो ?
मारो बिका द्रव्य को चाहो फँसे निन्द्य झगड़े में हो ?"
भूपति को कहता है कोई— 'पुरुष नहीं, यह अभिशापी,
आँखों के आगे पत्नी को बिकती देख रहा पापी।

तारा के प्रति कोई कहता— 'नारी यह कलिहारी है,
सम्भव है कुशीला भी हो, तभी बेचना जारी है।

सभी ओर से कटु वाणी का अति निस्सीम प्रवाह बहा,
हरिश्चन्द्र-तारा ने दिल को कड़ा किये यह द्वन्द्व सहा।

कोई भी जब मिला न ग्राहक घटा निराशा की छाई,
इतने में ही वयोवृद्ध ब्राह्मण की मूर्ति नजर आई।

"दासी की इच्छा हो जिनको ले लें दासी बिकती है,
तारा यह आवाज लगाती है पर कण्ठ झिझकती है।"

बूढ़े ब्राह्मण ने सोचा—"यह उच्च वंश की नारी है,
विपद्-ग्रस्त है, इस पर कोई संकट अति ही भारी है।"

तारा से आकर पूछा— 'हाँ बेटी ! यह क्या झंझट है ?
क्या विपत्ति है ? क्यों बिकती हो ? क्या कुछ अपर खटपट है ?"

'खटपट कुछ भी नहीं पिताजी ? ऋषि का ऋण ही देना है,
मेरे पति से इस ऋषिवर को सहस्र स्वर्ण धन लेना है।'

अपने जीते जी न आपका यशोनाश मैं देखूँगी,
बिना आपकी अनुमति के ही मैं अपने को बेचूँगी।
अगर आपके गौरव की मैं रक्षा कुछ भी कर पाऊँ,
तो मैं पत्नी होने का निज धर्म सफल कुछ कर जाऊँ।
पशु-समान बिक जाने पर भी सुख अनन्त मुझको होगा,
नाथ! न लक्ष्य प्राप्ति में रोकें, दुख अनन्त मुझको होगा।"

भूपति ने जब मिली न आज्ञा चली स्वयं रानी तारा,
आपणिकों के पास आदि का कार्य शीघ्र निबटा सारा।

रोहित रुदन मचाता पीछे चला, साथ ही भूपति भी,
क्रोध-मूर्ति प्रत्यक्ष, चले श्रीमान हठी कौशिक यति भी।

सूर्य देव की प्रखर रश्मियाँ, तप्त रूप तज शान्त बनी,
यत्र-तत्र काशी की सड़कों पर थी मानव-भीड़ ठनी।

दास-चिन्ह-अनुरूप शीश पर तृण रख कर तारा रानी;
आई ज्यों ही मध्य विपणि में, फैली त्यों ही हैरानी।

"कैसी दासी, यह तो कोई ऊँचे कुल की नारी है?
क्या बिकती है? बस रहस्य है, दुनियाँ की मक्कारी है।"
पूछे पर जब पता लगा तो सभी लोग साश्चर्य हँसे,
"कौन सहस्र स्वर्ण मुद्रा दे इस झंझट में व्यर्थ फँसे।"

आप स्वर्ग मांगेंगे मांगेगा झगड़ा ही मिट जायेगा,
"और मुझे क्या लेना है? बस नाम अटल रह जायेगा।"

वृद्ध विप्र से कहा गर्ज कर— 'अरे पाँच सौ ही दे दे,
विकट परिस्थिति में उलझा हूँ पापी तो सुलझाने दे।

ब्राह्मण ने सानन्द पाँच सौ मुहरें कौशिक को गिन दी,
कौशिक ने लेकर निज कर की झोली में झटपट रख ली।

तारा ने पति के चरणों में अन्तिम बार प्रणाम किया,
गंगा के पथ पर आंसू का रूप प्रेम ने धार लिया।

'प्राणनाथ! दीजिए अनुज्ञा अब यह दासी जाती है,
यथाशक्ति ब्राह्मण की सेवा-विधि का पथ अपनाती है!
मेरी चिन्ता कुछ न कीजिये जैसे भी हो रह लूँगी
नाम आपका रटते-रटते सब दुख संकट सह लूँगी।
नारी का सर्वस्व देव सौभाग्य जगत में पति ही है,
मय न तदर्थ देह हो अर्पण जीवन की संपत्ति ही है।
आज आप से होता है विच्छेद मुझे भीषण दुख है,
किन्तु ध्येय के पालन के प्रति गौण जगत का दुख सुख है।
विदा दीजिये चलती हूँ अब पता नहीं कब मिलना हो?
आशीर्वाद यही दें बस अब सत्पथ से न फिसलना हो।

आप कौन हैं ? नाम-गोत्र क्या ? कैसा ऋण है मुनिवर का;
समझ न सकता मैं यह लीला, भेद खोलिये अन्तर का।"

"नाम-गोत्र से क्या लेना है ? हम विपत्ति के मारे है,
मात्र दक्षिणा ऋण है पति पर, वचन न अपना हारे हैं !"

"सहस्र दक्षिणा बहुत बडी है कैसे दी तुमने बेटी ?
और दक्षिणा क्या ऐसी है जिस पर तुम बनती चेटी !"

और नहीं कुछ कह सकती हूँ, कुल गौरव का बन्धन है,
लेना है तो शीघ्र लीजिये, हाथ जोड अभ्यर्थन है।"

"ऋपिवर ! आप सन्त है, धन की ऐसी क्या भीपण ममता ?
भद्र-वश की गृह-लक्ष्मी को बिकवाते न हृदय तपता ?

'मूर्ख वृद्ध ! तुमको क्या इससे ? मुझे दक्षिणा लेनी है,
अगर दया है, ला तू दे दे, क्या शिक्षा ही देनी है ?"

'मुझ गरीब ब्राह्मण के पल्ले सहस्र स्वर्ण का द्रव्य कहाँ ?
अगर पाँच सौ चाहे तो लें, अभी गिना दूँ, खडा यहाँ ?"

कौशिक ने सोचा—"तारा है, धैर्यवती, विदुपी नारी,
भूपति को विचलित होने से यही बचाती हर बारी !
अगर अभी यह बिक जाये तो बस अच्छा ही हो जाये,
अर्ध दक्षिणा के फन्दे में फँसा भूप घबरा जाये !

आप स्वयं माफी माँगेगा झगड़ा ही मिट जायेगा,
और मुझे क्या लेना है ? बस नाम अटल रह जायेगा।"

वृद्ध विप्र से कहा मर्म कर— 'अरे पाँच सौ ही दे दे,
विकट परिस्थिति मे उलझा हूँ आगी तो सुलझाने दे।

ब्राह्मण ने सानन्द पाँच सौ मुहरे कौशिक को गिन दी,
कौशिक ने लेकर निज कर की झोली में झटपट रख ली।

तारा ने पति के चरणों में अन्तिम बार प्रणाम किया,
आँखों के पथ पर आँसू का रूप प्रेम ने धार लिया।

"प्राणनाथ ! दीजिए अनुज्ञा अब यह दासी जाती है,
यथामूर्ति ब्राह्मण की सेवा-विधि का पथ अपनाती है।
मेरी चिन्ता कुछ न कीजिये जैसे भी हो रह लूँगी
नाम आपका रटते-रटते सब कुछ संकट सह लूँगी।
नारी का सर्वस्व देव सौभाग्य जगत में पति ही है,
भय न तदर्थ देह हो अपण जीवन की संगति ही है।
आज आप से होता है विच्छेद मुझे मीषण दुख है,
किन्तु ध्येय के पालन के प्रति गौण जगत का दुख सुख है।
विदा दीजिये चलती हूँ अब पता नहीं कब मिलना हो?
आशीर्वाद यही दें बस अब सत्पथ से न फिसलना हो।

हरिश्चन्द्र सुन जडी भूत गिर पडे भूमि पर मूर्छित हो;
यह प्रसग ऐसा हो, इससे नही वीरता लाञ्छित हो !

तारा ने झटपट अचल मे पवन करी, भूपति चेते,
उठे साश्रु तारा-तारा का नाम एक स्वर से लेते।

"नाथ ! दु ख का समय नही है, सत्य सामने खडा हुआ;
रवि अस्तगत होने जाते, अभी अर्ध ऋण अडा हुआ।
ऋण न चुका, यदि रवि अस्तगत हुए सत्य का क्या होगा,
किया-कराया चौपट होगा, सत्पथ से गिरना होगा ?
आंखो के खारे पानी से किसका जग में काम चला ?
वज्र-हृदय मानव ही देते हैं सकट की शान गला ?
मेरे दासी बनने से क्यो दु:ख आपको होता है ?
जीवन मे अभिमान सत्य की निश्चलता को खोता है।
रानी या दासी, यह सब तो माया जाल बिछा ऊपर,
मानव तो बस मानव ही है, नही और कुछ इधर-उधर।
यह तो ब्राह्मण है मै बनती दासी नीच श्वपच की भी,
सत्य पूर्ति के लिए न परवा ऊँच-नीच की रत्ती भी।
आप पुरुष हैं, वर क्षत्रिय हैं, बस अधीर मत बनिएगा,
मोह दूर कर निज अन्तर मे नाद सत्य का सुनिएगा।

तारा के शब्दो से व्याकुल हृदय भूप का सबल हुआ,
हटा शोक का प्रबल प्रभजन, सत्य सर्वथा अचल हुआ !

"तारा तुम हो बच प्रकृति की अबला होकर भी सबला,
बिकट भयंकर संकट में भी तुम न कभी होती विकला।
मेरे सत्य-धर्म की रक्षा भाज तुम्हीं ने की देवी,
पतित सत्य से हो जाता यदि तुम न धैर्य रखती देवी।
जाना ऋण मुझ पर है, आभा कह बटाऊँगी मैं भी,
तुमने जो कुछ कहा सत्य कर दिखलाया संकट में भी।
अब क्या ऋण की फिक्र तुम्हारा पथ ही मेरा भी पथ हो;
बिदा सहर्ष तुम्हें देता हूँ सत्य तुम्हारा रक्षक हो।

गीत

दासी मैं चरण-कमल की भूल न जाना स्वामी!
प्रेम की अपनी दुनिया अमर बनाना स्वामी!

जीवन हो पूर्ण चरण में
थी यह अभिलाषा मन में,

कर्मों का फेर भयंकर, अब क्या पछताना स्वामी!
दासी की फिक्र न करना
स्वास्थ्य की रक्षा करना
संकट का समय बिकट है, धैर्य बँधाना स्वामी!
मुझसे जो दोष बना हो,
वह सब आज क्षमा हो

पिछली भूलो का दिल में, ध्यान न लाना, स्वामी !

जीवन का अन्तिम क्षण हो,
श्रीचरणों में बस मन हो,
अन्तर मे केवल इच्छा, पार लगाना, स्वामी !
प्राणेश्वर सहर्ष विदा दो
कुछ अन्तिम मधु शिक्षा दो,
श्री मुख से कहा वचन ही रत्न खजाना, स्वामी !

गीत

विदुषी हो तुमको अब क्या नीति सिखाना, देवी !
सत्य की मूरत तुम हो, सत्य निभाना, देवी !

सकट की नदिया गहरी,
जीवन की नैया झँझरी,
साहस की बल्ली लेकर, पार लगाना, देवी !
दुनिया है रोना-हँसना,
क्या मिलन-विरह में फँसना,
ममता के बन्धन झूठे, मोह न लाना देवी !
जब तक है सूर्य गगन में,
जब तक है मेरु धरनि में,

तब तक तू सत्य धर्म की चमक दिखाना देवी।

ब्राह्मण की सेवा करना
सुख-दुख का ध्यान न करना

सेवा के पथ में आकर फिर क्या सकुचाना देवी!

यही है आशिष मेरी
भूलूं मैं याद न तेरी

जीवन के कण-कण में तव प्रेम बसाना देवी!

साश्रु पात सोल्लास भक्ति से कर पति चरणों में वन्दन
रोहिताश्व को बिठा गोद में बार-बार करती चुम्बन।

वात सोच सूर्योस्त समय की तारा जल्दी चलती है
मातृ-स्नेह से पले कुंवर से सीम न छुट्टी मिलती है।

बेटा! दुखियारी माता के पास कहो अब क्या लोगे?
इधर दुःख में मैं तड़पूंगी उधर व्यथित तुम तड़पोगे।
भाग्यहीन जननी को भूलो समझो थी न कभी माता
महाराज ही अब तो तेरे केवल जग में हैं त्राता।'

छुड़ा निजाञ्चल रोहित से झट चली अयोध्या की रानी
रोहित माँ-माँ करता दौड़ा समझ कहाँ शिशु अज्ञानी।

हरिश्चन्द्र ने कहा—"पुत्र ! तुम माता के ही संग जाओ,
भाग्यहीन मेरे सङ्ग रह कर, व्यर्थ कष्ट तुम क्यो पाओ ?"

तारा ने समझाया—'बेटा ! मेरे साथ कहाँ जाना,
मैं दासी हूँ, निशि-दिन श्रम ही करना, श्रांति नही पाना।
रूखा-सूखा भोजन जैसा मिल जाए वैसा खाना,
तुम बालक, हठ कर जाओ तो मुश्किल तुमको मनवाना।"

"माँ, मैं तो बस संग चलूंगा, यहाँ न बिल्कुल भी रहना,
जो कुछ दोगी खालूंगा, इस ओर नही कुछ भी कहना।"

बहुतेरा समझाया, रोहित ने न एक कहना माना,
इतने मे ही गर्जन करता, सुना ऋषीश्वर का ताना।

"हरिश्चन्द्र, यह अभिनय कितनी देर चलेगा, बतलाओ,
सूर्य शेष है एक घडी, बस आधा ऋण भी दिलवाओ।"

वृद्ध विप्र भी बोला—"बेटी, अब मैं अधिक न ठहरूंगा,
बडी देर हो चली, भला मैं कब तक झंझट देखूंगा ?"

रोहित की यह दशा देख कर हाथ जोड बोली तारा,
शून्य-दृष्टि से लगी देखने, घूमा भूमण्डल सारा।

"पिता, आपसे एक प्रार्थना, इसको भी सङ्ग चलने दें,
कहो, करूं क्या, नही मानता, बालक की हठ रहने दें !"

बेटी कहना ठीक तुम्हारा पर यह तो इक झंझट है,
बालक के पीछे माता को कितनी रहती खटपट है ?
भोजन-पान आदि को झंझट मे ही समय गुजारोगी,
गृह-सेवा के लिये कौन-सा समय भला तुम पाओगी ?
और दूसरे भोजन का भी प्रश्न सामने आता है,
कौन गृहस्थ वृथा दो जन का भोजन-खर्च निभाता है ?

ब्राह्मण की सुन अन्तिम वाणी भूपति बोले मन ही मन
सत्य ! खूब जी भर कर जाँचो यह जन पीतल या कंचन !
जो बालक शत-शत लोगों के भोजन का आधार बना,
हन्त ! आज उसका ही भोजन दैव ! भयंकर भार बना !

तारा ने कर जोड़ कहा—"हे तात सत्य मैं कहती हूँ,
सेवा में कुछ विघ्न न होगा सत्य-प्रतिज्ञा करती हूँ।
रोहित तुमको नही जरा भी कभी कष्ट में डालेगा
छोटा-मोटा जो भी होगा काम शीघ्र कर डालेगा।
और नहीं माँगूँ'गी रूखा-सूखा जो भी लघु भोजन—
मुझको देंगे उसमे से ही खिला पिला दूँ भी भगवन !

ब्राह्मण की स्वीकृति मिलते ही तारा ने प्रस्थान किया
हरिश्चन्द्र के मन मे भी मृग-पत्नी का अनुमान किया।
पत्थर की मूरत से नृप को खड़े देख बोले कौशिक
अरे खड़ा किक मूढ़ बना क्यो चिन्ता कर ऋण की मास्तिक !

सूर्य अस्त होता है, तुझको ऋण की कुछ भी फिक्र नही,
पत्नी-सुत के मोही, क्यो अब गर्वित प्रण का जिक्र नही।
मात्र पांच सौ मुहरें दी हैं, इस पर यो निश्चित खडा,
अभी पांच सौ और चाहिए, प्रश्न वही का वही अडा।
अगर नही दे सकता है तो अब भी मान कहा मेरा,
भूल मान ले, अभी मिटाये देता हूँ, झगडा तेरा।
रानी छुट जायेगी, तू भी कौशल-पति बन जाएगा,
क्या रक्खा है, झूठी हठ में, वृथा कष्ट ही पाएगा।"

कौशिक ने सोचा था -"रानी गई, भूप घबराया है,
सत्य-छोडना मान जायगा, शोक भयङ्कर छाया है।"

किन्तु भूप ने अति दृढता से निर्भय हो प्रतिवचन दिया;
ऋषि की कल्पित आशाओ पर बिल्कुल पानी फेर दिया।

धर्मवीर नर सङ्कट पाकर और अधिक दृढ होता है;
कन्दुक चोट भूमि की खाकर दुगुना उत्प्लुत होता है।

गीत

सत्य के पथ पर खडा हूँ, सत्य के मैदान में,
भ्रान्त हो सकता नही हूँ, सत्य के श्रद्धान में।
राज-शासन, वीर सेना, कोष तो क्या चीज है ?
प्राण की भी भेंट दूँ मैं, सत्य के सम्मान में।

स ही भगवान् है भगवान् ही तो सत्य है
मेद अणुभर भी नही है, सत्य औ' भगवान् में।
दि सूरज और तारे यह मही-मण्डल अखिल,
सत्य के कारण हैं, वर्ना नष्ट हो इक याम में।
ादमी बन कर नही जो सत्य का सेवक बना
फर्क कुछ भी तो नही है उसमे औ' शैतान मे।
फ्ठों के वज्र सिर पर रात दिन गिरते रहे
आ नही सकती कमक दृढ सत्य के अभिमान मे।

'भगवन् ! बार-बार क्या कहते ? सौ बातो की बात यही
हूँ, मन सीमा अपने त्याग दे किन्तु सत्य मैं तजूं नही।
राज्य-त्याग वन-वन मे भटका बिकी आज प्यारी तारा
नही सत्य दूँ छोड़ कि जिसकी खातिर भोगा दुख सारा।
अभी ठहरिए, रवि छिपने से पहले ही ऋण चुकता है,
पत्नी के पथ पर अब पति भी दास रूप मे विकता है।

हरिश्चन्द्र ने तारा का वह त्यक्त घास सिर पर रक्खा
चले हो गए बिकने को निज सत्य किन्तु दृढ़तर रक्खा।

आते-जाते लगे पूछने मानव—"कौन? कहाँ रहते?
क्या कारण? किस लिए दासता स्वीकार कर संकट सहते?"

राजा बोले—"एक शब्द मे परिचय है, मैं बिकता हूँ
कौन कहाँ से क्या लेना है? झंझट व्यर्थ न करता हूँ।"

सूर्य अस्त होता है, तुझको ऋण की कुछ भी फिक्र नहीं,
पत्नी-सुत के मोही, क्यों अब गर्वित प्रण का जिक्र नहीं।
मात्र पांच सौ मुहरें दी हैं, इस पर था निश्चित खडा,
अभी पांच सौ और चाहिए, प्रश्न वहीं का वहीं अडा।
अगर नहीं दे सकता है तो अब भी मान कहा मेरा,
भूल मान ले, अभी मिटाये देता हूँ, झगडा तेरा।
रानी छुट जायेगी, तू भी कौशल-पति बन जाएगा,
क्या रक्खा है, झूठी हठ में, वृथा कष्ट ही पाएगा।"

कौशिक ने सोचा था—"रानी गई, भूप घबराया है,
सत्य-छोडना मान जायगा, शोक भयङ्कर छाया है।"

किन्तु भूप ने अति दृढता से निर्भय हो प्रतिवचन दिया;
ऋषि की कल्पित आशाओं पर बिल्कुल पानी फेर दिया।

धर्मवीर नर सङ्कट पाकर और अधिक दृढ होता है,
कन्दुक चोट भूमि की खाकर दुगुना उत्प्लुत होता है।

गीत

सत्य के पथ पर खडा हूँ, सत्य के मैदान में,
भ्रान्त हो सकता नहीं हूँ, सत्य के श्रद्धान में।
राज-शासन, वीर सेना, कोप तो क्या चीज है ?
प्राण की भी भेंट दूँ मैं, सत्य के सम्मान में।

कौशिक उसे देखकर बिगड़े—"दुष्ट कहाँ से यह आया,
अभी काम बन जाता मेरा भूपति का मन घबराया।

भूपति से बोले— "रे राजन्! क्या करता है सोच जरा
अपनों के हाथों बिकता है, देख स्व-कुल की ओर जरा।"
'भगवन्! क्या आन-मान के बन्धन की मर्यादा में
मानव की बस मानवता है, शुभाचरण की सीमा में।
भंगी हो यदि सच्चरित्र तो क्या वह ब्राह्मण-तुल्य नहीं?
हाँ तो मुझको नहीं देखना मैं किसके कर बिकता हूँ
मुझको तो बस यही देखना ऋण-बन्धन से छुटता हूँ।'
"अधिक दुराग्रह ठीक नहीं है जन्म भ्रष्ट क्यों करता है,
भंगी बनकर सूर्य-वंश की कीर्ति नष्ट क्यों करता है?
अब भी समझ, त्याग दे हठ को कार्य ठीक बन जाएगा
सुत पत्नी औ राज्य-विभव सब तुझे पुन: मिल जाएगा!

'क्षमा कीजिए, अब न आपका दास आपकी सीखेगा,
मूर्ख नहीं है जो अब ऐसा स्वर्ण सुअवसर खो देगा।
अभी लीजिए जो लेना है सूर्य चमकता है अब भी
मेरा प्रण परिपूर्ण होगया भाग्य शेष है कुछ अब भी।"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले—"अरे गर्व क्या मन में है,
अभी पता क्या कष्ट घोर से घोर दास-जीवन में है।

दास आपका पुरुषोचित सत्कार्य सभी कर सकता है,
मुहर पाँच सौ देकर मुझको कोई क्रय कर सकता है।"

मूल्य अधिक बतलाकर सब जन एक ओर को चल देते,
हरिश्चन्द्र अति खिन्न भाव से बार-बार रवि लख लेते।

"आज सूर्य छिपने से पहले क्या न चुकेगा मेरा ऋण,
हरिश्चन्द्र की कठिन परीक्षा, समय जा रहा है क्षण क्षण"।

भगी एक दूर से यह सब दृश्य देखता था प्यारा,
"भगी के कर कौन बिकेगा, अत मौन था बेचारा।"

हरिश्चन्द्र की सुनी निराशा-वाणी तो आगे आया,
नम्र-भाव से डरते डरते भूपति से आ बतलाया।

"वीर आप हैं बडी विपत मे, काशी मे बिकने आए,
किन्तु खेद है, काशी-वासी तुमको नही परख पाए।
क्षमा करे, मै भगी हूँ, क्या मेरे घर पर आएँगे,
आज्ञा हो तो अभी पाँच सौ मुहरें मुनिवर पाएँगे।"

भगी की सुन बात हृदय मे रानी की गूँजी वाणी,
ब्राह्मण तो क्या भगी के कर बिक जाती वह कल्याणी!
"हाँ मैं प्रस्तुत हूँ, ले चलिए, ले चलते हो आप जहाँ,
भगी हो अथवा ब्राह्मण हो मानवता में भेद कहाँ?"

कौशिक उस देखकर बिगड़े—"पुत्र कहाँ से यह आया;
अभी काम बन आता मेरा भूपति था बस घबराया।

भूपति से बोले— रे राजन्! क्या करता है सोच जरा
मगी के हाथों बिकता है, देख स्व-कुल की ओर जरा।
"भगवन्! क्या जाति-पाँति के बन्धन की मर्यादा में
मानव की वस मानवता है, शुभाचरण की सीमा में।
भंगी हो यदि सच्चरित्र तो क्या वह ब्राह्मण-तुल्य नहीं?
हाँ तो मुझको नहीं देखना मैं किसके कर बिकता हूँ
मुझको तो बस यही देखना ऋण-बन्धन से छुटता हूँ।
"धार्मिक दुराग्रह ठीक नहीं है जन्म-भ्रष्ट क्यों करता है;
भंगी बनकर सूर्य-वंश की कीर्ति नष्ट क्या करता है?
अब भी समझ, त्याग दे हठ को कार्य ठीक बन जाएगा
सुत पत्नी औ राज्य-विभव सब तुझे पुन: मिल जाएगा।"

"क्षमा कीजिए, अब मैं आपका दास आपसी लौटेगा;
मूर्ख नहीं है जो अब ऐसा स्वर्ण सुअवसर खो देगा।
अभी लीजिए जो लेना है सूर्य चमकता है अब भी
मेरा प्रण परिपूर्ण होयगा भाग्य शेष है कुछ अब भी।"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले—"अरे गर्व क्या मन में है;
अभी पता क्या कष्ट घोर से घोर दास-जीवन में है।

कितना है परिणाम भयंकर हठ का जब तू जानेगा,
ला क्या देना है धन-दौलत, नहीं मूर्ख अब मानेगा।"

भंगी को आवेश आ गया, मुहर पांच सौ गिन दी झट,
कहा—'और कुछ इच्छा हो तो लेलें, क्यों करते खटपट ?'

हरिश्चन्द्र ने किया प्रेम से ऋषि के चरणों में वन्दन,
"क्षमा कीजिए, दया-दृष्टि से आशी-राशि दीजे भगवन्!
अब तक रक्षा की निज प्रण की आगे भी प्रण पूरा हो,
हरिश्चन्द्र की यही प्रार्थना—स्वीकृत-पथ न अधूरा हो।"

कौशिक क्या कहते ? बस चुप थे, नृप भंगी के साथ चले,
रवि भी मानो दु खित होकर अस्ताचल की ओर ढले।

दासी

राज-महल की वासिनी तारा माधुर्य-गेह
धन्य सत्य की पूर्ति में बेची अपनी देह।

भाग्य-चक्र के परिवर्तन से सब जन संकट पाता है,
पाप-कर्म के दुष्फल पाकर, रोते जन्म गँवाता है।
किन्तु सत्य के कारण जो नर-नारी दुख उठाते हैं,
वे क्षण भंगुर जग में अपना नाम अमर कर जाते हैं।

संसृति में जितने भी अच्छे कार्य कष्ट से साध्य सभी
बिना अग्नि में पड़े स्वर्ण का रूप चमकता है न कभी।

पापी बनने में दुख क्या है? कोई भी बन सकता है।
पर, धर्मी बनने में तन का शोणित कण-कण जलता है!

सत्य-धर्म के लिए नृपति औ' रानी संकट झेल रहे,
संकट क्या साक्षात् अग्नि की ज्वालाओं से खेल रहे!

ब्राह्मण का छोटा-सा घर है, एक ओर बैठी तारा,
धुँधला सा इक दीप तिमिर से कांप रहा है बेचारा।
भूल रही है खाना पीना हृदय अग्नि सा धधक रहा,
आँखों के पथ पर आँसू का झर-झर प्रबल प्रवाह बहा।

पाठक सोच रहे है, अपनी पीडा मे रानी चिन्तित,
भ्रान्त धारणा है, रानी तो किसी और दुख से दुखित।

"हा पतिदेव! कष्ट है भीषण तुमको छोड चली आई,
दासी बनकर भी सकट को दूर नही मैं कर पाई।
सुख से, दुख से किसी तरह मे मैंने तो आश्रय पाया,
पता नही, तुम कहाँ किस तरह? दैव विकट तेरी माया।
आधा ऋण था शेष, चुकाया गया कि किंवा नही गया,
कौशिक, क्रोधी बडवानल हैं, आती उनको नही दया।
परम पिता, परमेश्वर! मेरी ओर नही कुछ भी आशा,
पति मेरे सानन्द रहे, बस यही एक है अभिलाषा।"

इस प्रकार चिन्ता मे घुलते-घुलते रात बिता दीनी,
पलभर को भी नही सती ने आँखो में निद्रा लीनी।
हृदय और मस्तिष्क तुम्हारा अगर काम कुछ देता है,
पाठक, सोचो इस हालत मे नीद कौन जन लेता है?

प्रात काल हुआ, प्राची मे, दिव्य नभोमणि आ चमके,
आलोकित हो उठा जगत् सब, फूलो के आनन दमके।

अन्धकार तारा के दिल में किन्तु और गहरा आया
बाहर का आलोक हृदय का तिमिर दूर कब कर पाया ?

पर अपना कर्त्तव्य समझ कर खुशी काम में भी तारा
झाड़ू चौका बर्तन करके किया काम सुन्दर सारा।

प्रथम दिवस में ही ब्राह्मण की पत्नी को या चकित किया
मिश्र और मिश्राणीजी का खुलकर आशीर्वाद लिया।

भोजन बना कर देत सब जन तब कुछ बाद-विरस-खाती,
रोहित को सस्नेह खिलाकर शेष स्वल्प-सा खुद खाती।

इसी तरह से धीरे-धीरे भूतकाल की स्मृति उज्ज्वल
लगे भूलने तारा रोहित, समझ समय की गति चंचल।

बीते कुछ दिन बड़ी शांति से किन्तु भाग्य मैं शांति कहाँ ?
सत्यवती तारा के पीछे एक भूत लग गया यहाँ !

वृद्ध मिश्र का एक पुत्र था नामांकत मक्कार बड़ा
बध्य मूर्ख प्रतिकामी लंपट हृदय पाप से मलिन-सड़ा !

बालकपन में लाड़-प्यार में ऐसा हुआ नहीं पढ़ा
युवक हुआ तो दुःसंगति में पड़, कुमार्ग की ओर बढ़ा।

घूम रहा था बाहर धक्के खाता दुष्कृति का मारा
एक दिवस आ गया अचानक काल मूर्ति-सा हत्यारा।

ब्राह्मण का छोटा-सा घर है, एक ओर बैठी तारा,
धुँधला सा इक दीप तिमिर से कांप रहा है बेचारा।
भूल रही है खाना पीना हृदय अग्नि-सा धधक रहा,
आँखो के पथ पर आँसू का झर-झर प्रबल प्रवाह बहा।

पाठक सोच रहे हैं, अपनी पीडा से रानी चिन्तित,
भ्रान्त धारणा है, रानी तो किसी और दुख से दुखित।

"हा पतिदेव। कष्ट है भीषण तुमको छोड चली आई,
दासी बनकर भी सकट को दूर नही मै कर पाई।
सुख से, दुख से किसी तरह से मैंने तो आश्रय पाया,
पता नही, तुम कहाँ किस तरह ? दैव विकट तेरी माया।
आधा ऋण था शेष, चुकाया गया कि किंवा नही गया,
कौशिक, क्रोधी वडवानल हैं, आती उनको नही दया।
परम पिता, परमेश्वर ! मेरी ओर नही कुछ भी आशा,
पति मेरे सानन्द रहे, बस यही एक है अभिलाषा।"

इस प्रकार चिन्ता में घुलते-घुलते रात बिता दीनी,
पलभर को भी नही सती ने आँखो मे निद्रा लीनी।
हृदय और मस्तिष्क तुम्हारा अगर काम कुछ देता है,
पाठक, सोचो इस हालत में नीद कौन जन लेता है ?

प्रात काल हुआ, प्राची मे, दिव्य नभोमणि आ चमके,
आलोकित हो उठा जगत् सब, फूलो के आनन दमके।

अन्धकार तारा के दिल में किन्तु और गहरा छाया
बाहर का आलोक हृदय का तिमिर दूर कब कर पाया ?

पर अपना कर्तव्य समझ कर जुटी काम में थी तारा
झाडू, चौका बर्तन करके किया काम सुन्दर सारा।

प्रथम दिवस में ही ब्राह्मण की पत्नी को था चकित किया
मिश्र और मिश्राणीजी का खुशकर आशीर्वाद लिया।

भोजन जब कर लेते सब जन तब कुछ बाद-विरस-बासी,
रोहित को सस्नेह खिलाकर शेष स्वल्प-सा खुद खाती।

इसी तरह से धीरे-धीरे भूतकाल की स्मृति उज्ज्वल
लगे भूलने तारा रोहित, समझ समय की गति चंचल।

बीते कुछ दिन बड़ी शांति से किन्तु भाग्य में शांति कहाँ ?
सत्यवती तारा के पीछे एक भूत लग गया यहाँ!

द्विज दिल का एक पुत्र था नालायक मक्कार बड़ा
बद्ध मूर्ख अतिकामी लंपट हृदय पाप से मलिन-सड़ा।

बालकपन में लाड़-प्यार में ऐसा हुआ नहीं पढ़ा
युवक हुआ तो कुसंगति में पड़ कुमार्ग की ओर बढ़ा।

घूम रहा था बाहर घर के खाता कुत्सृति का मारा
एक दिवस आ गया अचानक काल मूर्ति-सा हत्यारा।

ब्राह्मण का छोटा-सा घर है, एक ओर बैठी तारा,
धुँधला सा इक दीप तिमिर से काँप रहा है बेचारा।
भूल रही है खाना पीना हृदय अग्नि-सा धधक रहा,
आँखो के पथ पर आँसू का झर-झर प्रबल प्रवाह बहा।

पाठक सोच रहे हैं, अपनी पीडा से रानी चिन्तित,
भ्रान्त धारणा है, रानी तो किसी और दुख से दुखित।

"हा पतिदेव! कष्ट है भीषण तुमको छोड चली आई,
दासी बनकर भी सकट को दूर नही मैं कर पाई।
सुख से, दुख से किसी तरह से मैंने तो आश्रय पाया,
पता नही, तुम कहाँ किस तरह? दैव विकट तेरी माया।
आधा ऋण था शेष, चुकाया गया कि किंवा नही गया,
कौशिक, क्रोधी वडवानल हैं, आती उनको नही दया।
परम पिता, परमेश्वर! मेरी ओर नही कुछ भी आशा,
पति मेरे सानन्द रहे, बस यही एक है अभिलाषा।"

इस प्रकार चिन्ता में घुलते-घुलते रात बिता दीनी,
पलभर को भी नही सती ने आँखो मे निद्रा लीनी।
हृदय और मस्तिष्क तुम्हारा अगर काम कुछ देता है,
पाठक, सोचो इस हालत में नीद कौन जन लेता है?

प्रात काल हुआ, प्राची में, दिव्य नभोमणि आ चमके,
आलोकित हो उठा जगत् सब, फूलो के आनन दमके।

अन्धकार तारा के दिल मे किन्तु और गहरा छाया
बाहर का आलोक हृदय का तिमिर दूर कब कर पाया ?

पर अपना कर्तव्य समझ कर जुटी काम मे भी तारा
झाड़ू चौका बरतन करके किया काम सुन्दर सारा।

प्रथम दिवस मे ही ब्राह्मण की पत्नी को था चकित किया
मिश्र और मिश्राणीजी का खुशकर आशीर्वाद लिया।

भोजन जब कर लेते सब जन तब कुछ खाद्य-विरस-बासी,
रोहित को सस्नेह खिलाकर शेष स्वल्प-सा खुद खाती।

इसी तरह से धीरे-धीरे भूतकाल की स्मृति उज्ज्वल
लगे भूलने तारा रोहित समझ समय की गति चंचल।

बीते कुछ दिन बड़ी शांति से किन्तु भाग्य मे शांति कहाँ ?
सत्यवती तारा के पीछे एक भूत लग गया यहाँ।

वृद्ध विप्र का एक पुत्र था नालायक मक्कार बड़ा
बज्र मूर्ख अतिकामी लपट हृदय पाप से मलिन-सड़ा।

बालकपन मे लाड़-प्यार मे वैसा हुआ नही पढ़ा
युवक हुआ तो कुसंगति में पड़, कुमार्ग की ओर बढ़ा।

घूम रहा था बाहर धक्के खाता दुष्कृति का मारा
एक दिवस आ गया अचानक काम मूर्ति-सा हत्यारा।

तारा को लख हुआ विमोहित-"अहा रूप कितना सुन्दर !
दासी क्या है स्वर्ग अप्सरा, मिला योग कितना सुन्दर !"

सुन्दर अशन-वसन के द्वारा ज्योंही चाहा फुसलाना,
तारा थी विदुषी, कब उसको भला शक्य था बहकाना ?

"मैं दासी, मुझको यह सुन्दर, भोजन वस्त्र न भाता है,
साधारण-सा रहन सहन ही शास्त्र हमे बतलाता है।
दासी हैं हम, किन्तु हमे भी धर्म हमारा प्यारा है,
पति-विहीन शृङ्गार हमे तो तीक्ष्ण नग्न असि-धारा है।"

और अधिक क्या ? एक दिवस तो स्पष्ट शब्द मे फटकारा,
समझ न पाया मूर्ख, और भी चढा कुमति का शिर-पारा।

"दासी होकर फिर भी इतना, गर्व और गौरव रखती,
गृह-स्वामी की अपने मनमें नही तनिक परवा करती।
देखूँगा कब तक यह मुझको अकड ऐंठ दिखलाएगी,
बूढे ब्राह्मण का डर, वर्ना अभी अकड मिट जाएगी।"

दिल मे क्रोध बहुत ही आया, किन्तु न बोला कुछ ऊपर,
लगा सताने रानी-सुत को दुष्ट, नीच, क्रोधित होकर।

बात-बात पर क्रुद्ध, रुष्ट हो तारा को गाली देता,
कभी-कभी वह रोहित पर भी मारपीट शठ कर लेता।
तारा को भोजन भी पूरा नही प्रथम-सा मिलता है,
'क्षुधा विवश हो स्वय झुकेगी,' कामी-नीच समझता है।

बुद्धिमती तारा पर इसका असर भला क्या होता था ?
युवराज को व्यर्थ पाप का भार धीव पर ढोना था।

राज्य-त्याग से दुःख-सिन्धु को जिसने प्रमुदित पार किया
वह तारा क्या भाज कष्ट से भूलेगी निज धर्म क्रिया ?

रूखा सूखा थोड़ा-सा भी जो कदन्न रानी पाती
रोहित को भरपेट खिलाकर बचा-खुचा फिर खुद खाती।

रोहिताश्व अब समझ चला था माता से आग्रह करता
माता कहती—"पुन न खाऊँ उदर शूल पीड़ा करता।"

बहुत बार तो बिल्कुल भूखी रह कर काम किये जाती,
बाहर काम हृदय में प्रभु के स्तुति गुण-गान किये जाती।

दास

हरिश्चन्द्र भी बन गए भङ्गी के घर दास,
किन्तु न छोडा सत्य का अपना दृढ विश्वास।

सेवा का पथ जगती तल मे बडा कठिन बतलाया है,
सेवा का व्रत असिधारा-सा ऋषि-मुनियो ने गाया है।
असि-धारा क्या, नट भी इस पर हँसी-खुशी से चल सकते,
सेवा-पथ पर तो सुरपति भी डरते-डरते डग रखते।

पद-पद पर अपमान-यंत्रणा बडी विकट सहनी पडती,
बार-बार दुर्वाणी दिल में भाले की मानिन्द गडती।
धन्य-धन्य वे कर्मठ, ज्ञानी, वीर विश्व के सेवक हैं,
देश, जाति, कुल और धर्म की गरिमा के सरक्षक हैं।

हरिश्चन्द्र भी सेवक बन कर भङ्गी के घर पर आए,
सत्य-धर्म की रक्षा के हित अर्पण तन मन कर आए।

भंगी ने अपनी नारी से कहा— 'बड़े ही सज्जन हैं,
विपद्-ग्रस्त हैं, धर्म धीर हैं ज्ञानी बड़े विलक्षण हैं।
नौकर इनको नहीं समझना सादर नित सेवा करना
अनुचित हो व्यवहार न कुछ भी इसका ध्यान सदा रखना।
राजहंस का वास मान्य है, गौण तलैय्या पर आया
किन्तु तलैय्या भाग्यवती है अतिथि हंस सुन्दर पाया।
ऋषि के ऋण से बँधे हुए थे मुहर पाँच सौ में आया
सफल कमाई आज हुई है, श्रेष्ठ पुरुष घर पर आया।

भावुक था भंगी पर भगिनि बड़ी कर्कशा नारी थी
भड़क पड़ी भंगी पर उसकी नख-शिख तक कलहारी थी।
काम नहीं कुछ लेना इससे तो क्या सूरत देखूँगी
मुहर पाँच सौ देकर लाए, क्या चूल्हे में फूँकूँगी।
कौड़ी-कौड़ी जोड़ खून को सहकर द्रव्य कमाते हैं
धर्मात्मा बनने की धुन में यों बेदर्द लुटाते हैं।
भंगी ने हो क्रुद्ध ज़ोर से कलहारी को फटकारा,
मार रहा था हरिश्चन्द्र ने बड़ी कठिनता से वारा।

प्रतिदिन राजा वीर श्वपच से कहते— 'कुछ आज्ञा दीजे
छोटा-मोटा जो भी मेरे योग्य काम करवा लीजे।
धर्म नहीं आज्ञा देता है ठाली बैठे खाऊँ मैं
दास-प्रथा प्रतिकूल मार्ग यह काम न जो कर पाऊँ मैं।'

भगी कहता—"क्या जल्दी है, काम कौन-सा लाऊँ मैं ?
यह क्या काम आपका कम है, धर्म-वचन सुन पाऊँ मैं ?"

भगिनि नित्य हृदय मे कुढ-कुढ और बहुत बड-बड करती,
घृणा, द्वेष की आग चित्त मे प्रतिदिन नित्य नई भरती।

भगी था बाहर, भगिनि से एक दिवस आज्ञा माँगी,
गर्ज उठी जैसे सोते मे क्रुद्ध सिंहिनी हो जागी।

"अरे निखट्टू काम करेगा ? धर्म-शास्त्र बस बतला दे,
कब की बैठी हूँ प्यासी मै, घडा एक पानी ला दे।"

घडा बडा-सा लेकर भूपति गगा के तट पर आए,
गगा की निर्मल जल-धारा देख-देख कर हरषाए।

उधर नीच वह विप्र पुत्र भी तारा को तग करता है,
गंगा-जल लाने की आज्ञा देकर खूब अकडता है।

तारा भी घट ले गगा के तट पर जल भरने आई,
सहनशीलता पति-दर्शन का स्वर्ण योग देने आई।

सच्चा हो यदि प्रेम हृदय मे तो प्रेमी मिल जाता है,
प्रेमी तो क्या, ईश्वर का भी मानव, दर्शन पाता है।

पति-पत्नी ने सम्मुख देखा एक दूसरे को ज्योही,
हृदय, हर्ष के सुधा-स्रोत से छलक उठे सहसा त्यो ही।

दो प्रेमी के मिलन-दृश्य का क्या कवि वर्णन कर सकता,
स्वतः विचित्रित इन्द्र-धनुष में रंग कौन है भर सकता ?

एक दूसरे के सुख-दुख की दोनों ने पूछी बातें
हरिश्चन्द्र ने अपनी बीती बतलाई पिछली बातें।
पति-पत्नी दोनों ही खुश हैं अपने भाग्य-विधाता पर,
'धन्यवाद है, कृपा तुम्हारी पाया अति सुन्दर अवसर।''

दोनों ने सोचा—"अब ज्यादा देरी करना ठीक नहीं
स्वामी को धोखा देना है, धर्म बिगड़ना ठीक नहीं।
आज मिला जैसे यह अवसर वह भी इक दिन आएगा
बन्धन-मुक्त बनेंगे सुख का सुधा-सिन्धु लहराएगा।''

रानी को तो और स्त्रियों ने घट सस्नेह उठा दीना
राजा भंगी बन कर आए कौन स्पर्श से हो हीना।
जल भरने का यह पहला ही अवसर था अभ्यास न थे
आभिजात्य के मिथ्या-भ्रम में फँसे लोग तैयार न थे।

रानी बोली—'नाथ ! समस्या उलझ रही है अति भारी
दास्य भाव के कारण अपनी जाति बनी न्यारी-न्यारी।
उठवा देती किन्तु प्रिय का धर्म न आज्ञा देता है,
लोक-नीति है बड़ी हुई, पर हृदय तरसें लेता है।

भगी कहता—"क्या जल्दी है, काम कौन-सा लाऊँ मैं ?
यह क्या काम आपका कम है, धर्म वचन सुन पाऊँ मै ?"

भगिनि नित्य हृदय मे कुढ-कुढ और बहुत बड-बड करती,
घृणा, द्वेष की आग चित्त में प्रतिदिन नित्य नई भरती।

भगी था बाहर, भगिनि से एक दिवस आज्ञा मांगी,
गर्ज उठी जैसे सोते मे क्रुद्ध सिंहिनी हो जागी।

"अरे निखट्टू काम करेगा ? धर्म-शास्त्र बस बतला दे,
कब की बैठी हूँ प्यासी मैं, घडा एक पानी ला दे।"

घढा बडा-सा लेकर भूपति गगा के तट पर आए,
गगा की निर्मल जल-धारा देख-देख कर हरपाए।

उधर नीच वह विप्र पुत्र भी तारा को तग करता है,
गंगा-जल लाने की आज्ञा देकर खूब अकडता है।

तारा भी घट ले गगा के तट पर जल भरने आई,
सहनशीलता पति-दर्शन का स्वर्ण योग देने आई।

सच्चा हो यदि प्रेम हृदय में तो प्रेमी मिल जाता है,
प्रेमी तो क्या, ईश्वर का भी मानव, दर्शन पाता है।

पति-पत्नी ने सम्मुख देखा एक दूसरे को ज्योंही,
हृदय, हर्ष के सुधा-स्रोत से छलक उठे सहसा त्यों ही।

मौर दूसरे इनका कुछ भी दोष नहीं दोषी मैं हूँ
मुझ से घट फूटा है, स्वामी! प्रविनकी क्लेशी मैं हूँ।
गृह-लक्ष्मी हैं मत: व्यवस्था सभी तरह से है रखती
बिना बात की हानि बड़े से बड़े जनों को भी खलती।"

भमिनि लज्जित बनी आप ही देख भूप की सज्जनता
सज्जनता के आगे होती लज्जित आखिर दुर्जनता।

मंगी बोला — 'बड़ा कष्ट है घर पर तो यह कलहारी
मँगा-तट मरघट है मेरा वन वहाँ के अधिकारी।
दाह क्रिया करने से पहले अर्ध कफन-कर ले लेना;
दाह-अर्ध फिर समुचित सबकी आदि प्रेम से दे देना।"

कौशल के सम्राट समुन्नत सप्त सौध के अधिवासी
काला कम्बल कांधे डाले बने आज मरघट-वासी।

घट को लेकर गहरे जल मे चलिए घट उठ जाएगा,
जल मे वस्तु न भारी लगती, न्याय काम मे आएगा।'

भूपति ने बस इसी तरह से घडा उठाया, और चले,
पहुँचे ज्योही श्वपच-गेह पर हन्त! भाग्य से गए छले।

देहली की ठोकर लगते ही घडा कहाँ का कहीं गिरा,
खण्ड-खण्ड हो गया, सदन मे जल ही जल सब ओर फिरा।

भगिनि भडकी, तडकी, उछली, गर्जी, और लगी बकने,
"अरे दुष्ट घट फोड दिया, क्या देख रहा था तू सपने ?
बडी देर में लेकर आया, और किया आकर यह जस,
बतला पीऊँ क्या मैं तेरा खून प्यास करती बेबस।"

बरस रही थी भगिनि, राजा खडे हुए थे बिल्कुल मौन,
नीच-प्रकृति के सग कलह कर क्लेश बढ़ाए नाहक कौन ?

भगी आ पहुँचा इतने में देखा तो बिगडा, भडका,
'अभी सर्वथा नाश करूँगा, घातक विपतरु की जड का।'

दौडा लेकर छुरी मारने भूपति ने आकर पकडा,
"समझदार होकर भी यह क्या करते हैं दुष्कर्म बडा ?
महापाप नारी की हत्या, शास्त्रकार बतलाते हैं,
वीर पुरुष नारी के ऊपर कभी न हाथ उठाते हैं।

सुन्दर सुघड़ बनायें चाहे
कुटिल कुरूप बना डालें।

हरिश्चन्द्र तारा हैं निर्भय
धीर, वीर, साहस-शाली
रोहित कब हो सकता है, फिर,
भला इन्हीं गुण से खाली।

रोहित देख रहा था— 'माता
नित सहर्ष भूखी रहती
सूर्योदय से लेकर करती
काम घोर पीड़ा सहती।"

"माता के भोजन से भोजन
मुझको लेना उचित नहीं
मेरी उम्र-पूर्ति के कारण
जननी भूखी ठीक नहीं।

आओ कलयुग की सन्ताना
रोहित के दर्शन करलो,
मातृ-भक्ति का पथ अपना कर
अन्तर का कलि-मल हर लो!

स्वतंत्र रोहित

मात-पिता श्रनुसार ही होती है सन्तान
कटुक मधुर फल-वृक्ष के लगते वीज-समान

सन्तति के गुण, दोप श्रधिकतर
मात-पिता पर निर्भर हैं,
सस्कारो के जीवन, पट पर
पडते चिह्न, प्रवलतर हैं।

शिलान्यास सस्कृति का माता—
पिता पूर्व रख जाते हैं,
श्रागे चल कर पूर्व-वीज ही
यथा काल फल लाते हैं।

वालक कच्चा घट है उसको
जैसा जी चाहे, ढालें,

सुन्दर सुघड़ बनालें चाहे
कुटिल कुरूप बना डाले।

हरिश्चन्द्र तारा हैं निर्भय
धीर, वीर, साहस-धामी
रोहित क्यों हो सकता है, फिर,
भला इन्हीं गुण से खामी।
रोहित देख रहा था— माता
नित्य मवर्ष भूखी रहती
सूर्योदय से लेकर करती
काम घोर पीड़ा सहती।"

माता के भोजन से भोजन
मुझको लेना उचित नहीं
मेरी उदर-पूर्ति के कारण
जननी भूखी ठीक नहीं।

माना सतयुग की सन्ताना
रोहित के दर्शन करता;
मातृ-भक्ति का पथ अपना कर
मन्तर का कलि-मल हर ली।

"आता है रोहित निज बल से कुछ धन-राशि कमाएगा,
होकर तरुण नृपति का-मेरा चिर दासत्व छुड़ाएगा।

कौन बडी सम्पत्ति देय है मुहर सहस्र ही तो केवल,
धन्य दिवस वह होगा, पति के दर्शन होंगे जब निर्मल।"

भाग्य कुटिल हँसता था-"रानी, सोच रही हो क्या चुपचाप,
मेरा भी कुछ पता तुझे है? आता है भीषण सन्ताप।

एक बार तो ऐसा झटका दूँगा सँभल न पाओगी;
अन्तिम सीमा पर पटकूँगा, रोओगी चिल्लाओगी।"

प्रतिदिन के अनुसार एक दिन रोहित ने की वन-यात्रा,
सन्ध्या को भोजन न मिला था, लगी भूख की अति मात्रा।

आस-पास के साथी शिशु भी चले बना खासी टोली;
लहरों की मानिंद उछलते, चहकाते नव-नव बोली।

वन में दूर आम्र का सुन्दर वृक्ष फलों से लदा हुआ—
देखा तो बच्चों के दिल में अकस्मात मुद बड़ा हुआ।

रोहित चढ़ने लगा वृक्ष पर दिया दिखाई, इक विषधर—
लिपट रहा था तरु-स्कन्ध से बालक काँप उठे थर-थर॥

रोहित निर्भय तना खड़ा था, कहा-"अरे, विषधर जाओ,
यह न तुम्हारा खाद्य हमारा भोजन है, मत ललचाओ।"

रोहिताश्व जब हुआ अग्रसर सर्प भयंकर फुफकारा,
निर्भय क्षत्रिय वीर-पुत्र था डरता क्या भय का मारा ?

आओ बच्चो चूहे की भी खड़-खड़ से डरने वालो,
रोहित भी है बन्धु तुम्हारा वीर-धर्म की शिक्षा लो।
यह भी क्या जीवन है ? हरदम कांपा करते हो थर-थर
जरा अँधेरे मे रस्सी भी तुमको दिखती है विषधर।
माताएँ जो भूत प्रेत की भीति तुम्हें दिखलाती हैं,
झूठे भ्रम में तुम्हे फँसा कर कायर भीरु बनाती हैं।

सावधान हो जाएँ साहस अब अति साहस होता है,
निर्भयता के साथ मेल अब नासमझी का होता है।

रोहित ने विषधर को कर से पकड़ दूर करना चाहा
विषमयदन्त्रा नाग ने मारा बालक चीख उठे हा ! हा !!

रोहिताश्व विष-जर्जर होकर पड़ा भूमि पर चिल्लाया
'अरे हुआ क्या ? बड़ी विकट है भाग्य तुम्हारी हा माया !
माता माता ! आज तुम्हारा रोहित वन में मरता है
काटा विषधर ने अणु-अणु में जहर सवेग लहरता है।
मन की इच्छा मन मे लेकर जाता हूँ कुछ कर न सका,
पिता और तुमको कर बंधन मुक्त मोद से भर न सका।
माता ! तुम भगवान रूप से लो निज सुत का अभिवन्दन,
जाता हूँ अब करता मेरा स्वर्ग लोक चिर अभिनन्दन !

प्रभो ! प्रभो ! तुम इस बालक पर दया दृष्टि निज रखिएगा,
पाप-दोष हो जो भी मेरे, क्षमा प्रेम से करिएगा !
निस्सहाय माता तो चरणों में है छोड़ चला भगवन !
सुत-वियोग-संकट सहने की देना शक्ति उसे क्षण-क्षण !"

भगवन ! भगवन !! करते करते विष प्रभाव फैला तन में,
तारा की आँखों का तारा हा बेहोश हुआ क्षण में !

बाल-मण्डली के कुछ बालक दौड़े, जाकर खबर करी,
'रोहित मरा सर्प ने काटा'-गूँजी वाणी जहर-भरी !

वज्राहत-सी मूर्छित होकर पड़ी धरित्री पर तारा,
जल विहीन मछली के मानिंद लगा तड़पने तन सारा !
कभी होश में आ जाती है, कभी मूर्छना होती है,
सहम-सहम सालों के जैसी दिल में पीड़ा होती है !

"हा रोहित, हा पुत्र ! अकेली छोड़ मुझे तू कहाँ गया ?
मैं जीकर अब क्या करूँ क्या ले चल मुझको जहाँ गया !
पिछला दुख तो भूल न पाई, यह क्या वज्र नया टूटा,
तारा तू निर्भागिन कैसी, भाग्य सर्वथा तव फूटा !"

गीत

हाय ! बेटा, क्या तूने विचारी ?
माता छोड़ी, हा ! कर्मों की मारी !

क्या-क्या आशा मंसा मैंने बाँधी
क्या-क्या खिचड़ी मनोरम की राँधी
आज तूने यह क्या धूल झारी?
हाय बेटा! क्या तुझे बिचारी?
कैसे धीरज मन मैं बता तू
हाय! सूरत जरा तो दिखा तू
चलती मन की जिगर पै कटारी
हाय! बेटा क्या तूने बिचारी?
पास मेरे रहा क्या न कुछ भी
मैं अनाथा सहारा न कुछ भी
आज उजड़ी मेरी दुनिया सारी,
हाय! बेटा क्या तूने बिचारी?
कैसे जीवन हा! मेरा कटेगा
हाय! निशि दिन कलेजा फटेगा
छाया चहुँ ओर अंधकार भारी
हाय! बेटा, क्या तूने बिचारी!
हृदय-हीन है मानव कितना? आप नमूना देखेंगे?
क्या देखेंगे? क्षुब्ध बनेंगे हृदय घृणा से भर लेंगे!

ब्राह्मण-पुत्र नाम का ब्राह्मण कर्मों से चाण्डाल बना
पास खड़ा था रुद्र रूप-धर कलि-मल से था हृदय सना!

प्रभो ! प्रभो ! तुम इस बालक पर दया दृष्टि निज रक्खोगा,
पाप-दोष हो जो भी मेरे, क्षमा प्रेम मे करोगा।
नि सहाय माता को चरणों मे हूँ छोड चला भगवन !
सुत-वियोग-संकट सहने को देना शक्ति उसे क्षण-क्षण !"

भगवन ! भगवन !! करते करते विष प्रभाव फैला तन मे,
तारा की आँखो का तारा हा बेहोश हुआ क्षण मे !

बाल मण्डली के कुछ बालक दौडे, जाकर खबर करी,
'रोहित मरा सर्प ने काटा'-गूँजी वाणी जहर-भरी !

वज्राहत सी मूर्छित होकर पडी धरित्री पर तारा,
जल-विहीन मछली के मानिंद लगा तडपने तन सारा !
कभी होश मे आ जाती है, कभी मूर्छना होती है,
सहस्र-सहस्र भालो के जैसी दिल में पीडा होती है।

"हा रोहित, हा पुत्र ! अकेली छोड मुझे तू कहाँ गया ?
मैं जीकर अब बता करू क्या ले चल मुझको जहाँ गया।
पिछला दुख तो भूल न पाई, यह क्या वज्र नया टूटा,
तारा तू निर्भागिन कैसी, भाग्य सर्वथा तव फूटा।"

गीत

हाय ! बेटा, क्या तूने विचारी ?
माता छोडी, हा ! कर्मो की मारी।

क्या-क्या आशा मन मैंने बाँधी
क्या-क्या खिचड़ी मनोरथ की राँधी
आज तूने यह क्या धूल डारी ?
हाय बेटा ! क्या तूने विचारी ?
कैसे धीरज धरूँ मैं बता तू
हाय ! सूरत जरा तो दिखा तू,
चलती गम की जिगर पै कटारी
हाय ! बेटा क्या तूने विचारी ?
पास मेरे रहा क्या न कुछ भी
मैं अनाथा सहारा न कुछ भी
आज उजड़ी मेरी दुनिया सारी;
हाय ! बेटा क्या तूने विचारी ?
कैसे जीवन हा ! मेरा कटेगा
हाय ! निधि बिन कलेजा फटेगा
छाया चहुँ ओर अँधकार भारी
हाय ! बेटा, क्या तूने विचारी !
हृदय-हीन है मानव कितना ? आप नमूना देखेंगे,?
क्या देखेंगे ? कुछ बनेंगे हृदय घृणा से भर लेंगे !

पक्षधर-पुत्र नाम का ब्राह्मण कर्मों से चाण्डाल बना
पास खड़ा था शव रूप धर कलि-मल से था हृदय सना !

प्रभो ! प्रभो ! तुम इस बालक पर दया दृष्टि निज रखियेगा;
पाप-दोष हों जो भी मेरे, क्षमा प्रेम से करियेगा ।
निःसहाय माता को करुणा मे है छोड़ चला भगवन !
सुत-वियोग-संकट सहने की देना शक्ति इसे क्षण-क्षण !'

"भगवन ! भगवन !!" करते करते विष प्रसार फैला तन में,
तारा की आँखों का तारा हा बेहोश हुआ पल में ।

बाल मण्डली के कुछ बालक दौड़े, जाकर खबर करी,
'रोहित मरा सर्प ने काटा'-गूँजी वाणी जहर-भरी ।

वज्राहत सी मूर्छित होकर पड़ी धरिणी पर तारा;
जल विहीन मछली के मानिंद लगा तड़पने तन सारा ।
कभी होश में आ जाती है, कभी मूर्छना होती है,
सहस्र-सहस्र माता के जैसी दिल मे पीड़ा होती है ।

"हा रोहित, हा पुत्र ! अकेली छोड मुझे तू कहाँ गया ?
मै जीकर अब क्या करूँ क्या ले चल मुझको जहाँ गया ।
पिछला दुख तो भूल न पाई, यह क्या वज्र नया टूटा,
तारा तू निर्भागिन कैसी, भाग्य सर्वथा तव फूटा ।"

गीत

हाय ! बेटा, क्या तूने विचारी ?
माता छोडी, हा ! कर्मो की मारी !

क्या-क्या आशा मन में बाँधी,
क्या-क्या खिचड़ी मनोरथ की राँधी
आज तूने यह क्या धूल डारी?
हाय बेटा! क्या तूने बिचारी?
कैसे धीरज धरूँ मैं बता तू
हाय! सूरत जरा तो दिखा तू,
चलती गम की जिगर पै कटारी
हाय! बेटा क्या तूने बिचारी?
पास मेरे रहा क्या न कुछ भी,
मैं अनाथा सहारा न कुछ भी
आज उजड़ी मेरी दुनिया सारी;
हाय! बेटा क्या तूने बिचारी?
कैसे जीवन हा! मेरा कटेगा
हाय! निशि दिन कलेजा फटेगा
छाया चहुँ ओर अँधकार भारी
हाय! बेटा, क्या तूने बिचारी!
हृदय-हीन है मानव कितना? आप नमूना देखेंगे?
क्या देखेंगे? क्षुब्ध बनेंगे हृदय घृणा से भर लेंगे।

ब्राह्मण-पुत्र नाम का ब्राह्मण कर्मों से चाण्डाल बना
पास खड़ा था क्रूर रूप धर कलि-मल से था हृदय सना।

"रोती क्यो है पगली ? हो क्या गया ? कौन-सा नभ टूटा ?
बालक ही तो था, दासी के जीवन का बन्धन छूटा ।
मै तुझको रो-रो कर ऐसे कभी नही मरने दूँगा,
मुहर पाँच सौ खर्च करी हैं, सेवा जीवन भर लूँगा ।

तारा ने जब वचन सुने तो मर्मान्तिक पीडा पाई,
किन्तु भाग्य विपरीत जान कर, धीरज धर कर बतलाई ।

"जो होना था हुआ, किन्तु अब क्या करना है ? बतलाएँ ?
आप हमारे स्वामी हैं, उपचार योग्य कुछ करवाएँ ।
मैं नारी परिचित न किसी से कहाँ किधर जाऊँ ? आऊँ ?
आप सग मे चलें कृपा कर दर्शन रोहित का पाऊँ ।"

पत्थर पर कुछ असर भले हो, किन्तु दुष्ट पर कभी नही,
दीन प्रार्थनाएँ तारा की, ब्राह्मण के प्रति विफल रही ।

"क्या उपचार ? मर गया वह तो मृत भी क्या जीवित होते ?
हम स्वामी, दासो के पीछे द्रव्य नही अपना खोते ।
मुझे कहाँ अवकाश, चलूँ जो तेरे साथ व्यर्थ कानन;
लबी बाते करने से क्या दुखता नही कहो आनन ?

जाओ जल्दी, काम पडा है, दाह-कर्म कर झट आना,
खबरदार ! मृत को न नगर मे वापस मेरे घर लाना !"
वृद्ध विप्र था सदय, पुत्र के डर से किन्तु नही बोला,
तारा के अणु अणु मे धँधका शोक-हुताशन का शोला !

मन मसोस कर खड़ी हुई अब पड़ी अकेली ही बन को
मूच्छित होकर पड़ी भूमि पर देख पुत्र के मृत तन को।
वन-समीर से चेतन होकर, लगी रुदन करने मारी
मूच्छित सुत को उठा गोद मे विलख रही है दुखियारी।

बेटा आँखें खोलो देखो जननी कब से रोती है
रूठ रहे हो क्या तुम मुझ से ठीक नहीं हठ होती है।
हा हा! इतना प्यार पलक में तूने कैसे ठुकराया?
माता बिलख रही है, तूने स्वर्ग-लोक-पथ अपनाया।
रोहित! इस दुनिया म आकर तूने क्या देखा भाला?
राज वंश में, जन्म लिया पर पड़ा विपद से हा पाला!
तुम तो कहते थे—माता मैं होकर तरुण कमाऊँगा
पिता और तुमको जल्दी ही बन्धन से छुड़वाऊ गा।
बता भाग हमको बन्धन से कौन छुड़ाने आयगा?
हाय दासता करते मे ही जीवन सब घुल जाएगा!
हा तेरा यह पुष्प कुसुम तन क्या अहि के डसने को था,
शून्य विपिन मे इक अनाथ की तरह हत मरने को था?
हा हा! पापी सप कहाँ वह गया काट कर हरबारा
आकर मुझको भी डस ले अब किस पर जीएगी तारा?
चलो प्राण! क्या अटक रहे हो? अब काहे की आशा है?
जीवन-धन तो चला गया अब आशा नहीं दुराशा है।

घोर अमा की रात्रि कृष्णतम अन्धकार कैसा भीषण,
मूक घोर जम्बुक का भैरव आरव होता था क्षण-क्षण।

अन्धकार में अन्धकार बन काले अम्बर में छाये
भीषणता के जो भी थे दुश्चिह्न सिमट कर सब आये।

स्वर्ण-महल में फूल सेज पर, शत-शत सखियों से परिवृत
छत्र-सुसज्जित शत शत सैनिक दल से प्रतिदिन संरक्षित।

शून्यारण्यानी में तारा मही आज कैसे रोती?
स्नेही सुत की लाश गोद में रो रो कर सुध-बुध खोती।
कोई भी न सान्त्वना देने वाला मनुज अकेली है,
कैसे सुत की दाह-क्रिया हो उलझी बड़ी पहेली है।

धनवालो! क्या सुध खोए हो? चाँदी की खन-खन सुन सुन,
अकड़ रहे हो एंठ रहे हो भोग रहे हो सुख चुन चुन!
सदा कहाँ रहती है किसकी दो दिन की फुलवारी है
चार दिनों का चाँदन आखिर तिमिर भयङ्कर भारी है।
तारा के वैभव के आगे कुछ न तुम्हारा वैभव है,
देख रहे हो यहाँ आज क्या दृश्य बड़ा ही भैरव है।
न्याय-नीति उपकार करो जग युग-युग तक यश गाएगा
माया ढलती फिरती छाया नाम अमर हो जाएगा।
हरिश्चन्द्र तारा को देखो दुनिया कैसे यश गाती?
लाख-लाख हो चुके वर्ष हाँ फिर भी नहीं भुला पाती।

हा, हा ! नाथ ! देख लो अपने गोद खिलाए प्रिय सुत को,
तुमने सौंपा, रत्न सखी मैं रत्न अमोलक अद्‌भुत को !
लज्जित हूँ, अति लज्जित हूँ, मैं मुख कैसे दिखलाऊँगी ?
रोहित को खोकर मैं पापिन सम्मुख कैसे आऊँगी ?"

गीत

क्या खबर थी हाय ! मेरा भाग्य यों सो जायगा ?
आँख का तारा अचानक लुप्त या हो जायगा ?
देख कर खुश हो रही थी-पुत्र क्या है, रत्न है,
क्या पता था एक दिन यों हाथ से खो जायगा ?
रंग दे दे कर बनाये थे सुखों के चित्र क्या ?
स्वप्न में भी था न, रोहित यों कभी धो जायगा ?
पथ निराशा का सजाया था सुमन संकल्प से;
हा ! पता क्या था कि बेटे, काँटे तू बो जायगा ?

तारा घटों क्रन्दन करती रही, शोक चहुँ दिशि छाया,
आखिर रोते और विलखते धैर्य स्वयं दिल में आया।

बालक सारे चले गये थे, पास नहीं कोई भी जन,
पवन शीश धुनती तरु गण सें, सांय-सांय करता था वन।
सूर्य देव भी निज कुल की दुख दशा देख कर घबराये,
मुख विवर्ण बन गये हतप्रभ, अस्ताचल के प्रति धाये।

अन्तिम कसौटी

हरिश्चन्द्र के सत्य की अग्नि-परीक्षा आज,
सावधान हो देखिये सत्य-शक्ति का राज !

आज दृश्य पर्यन्त भयङ्कर, तमःस्तोम चहुँ दिशि छाया
अमा रात्रि ने अपना असली रूप भयानक दिखलाया।
तारा एक न नभ में दिखता बादल उमड़ रहे काले;
वर्षा के कारण अति भीषण रव से गर्ज रहे नाले।
झंझावात वेग से चलता बिजली कड़क रही क्षण-क्षण
बार-बार वज्र-ध्वनि होती समय असम सा है भीषण।

मरघट क्या है मृत्यु राक्षसी नाच रही है कण-कण पर,
एक छत्र है राज्य भीति का कम्पित हो मानस थर-थर।
कहीं खोपड़ी पड़ी हुई है कहीं चिता के ढेर लगे
कहीं अस्थियाँ तिड़क रही हैं, कुक्कुर दल के भाग्य जगे।

गीत

अरे, ओ अमीरो ! कहाँ सो रहे हो ?
चलो मर कुरा कर, अकड़ क्यों रहे हो ?
मिले चन्द पैसे तो दुनिया को भूले,
विलासों में जीवन को क्यों खो रहे हो ?
सता कर किसी को मिलेगा क्या तुमको,
वृथा पथ में काँटे जहर बो रहे हो ?
गरीबों पै हँसना, यह हँसना नहीं है,
समझ लो कि अपने पै तुम रो रहे हो ?
भला कैसे होगा तुम्हारा अगाड़ी ?
'अमर' पाप की गाँठ क्यों ढो रहे हो ?

आओ पाठक, चले हमी बन सदय पास दुखियारी के,
देखे धैर्य, सत्य बल, साहस उस अतीत की नारी के।
तारा को कर्तव्य पूर्ति का ध्यान जगा दिल के अन्दर,
साहस-पूर्वक रोहित शव को चली उठा निज कंधे पर।
अन्धकार है, ऊँचा नीचा नही दृष्टिगत होता है,
ठोकर लगती कदम कदम पर सब तन कंपित होता है।
चलते-चलते ज्यो ही मरघट-भूमि दिखाई पड़ती है,
आंखो से आंसू की धारा झर-झर झर-झर झरती है।

स्वर्णासन पर बैठ मनुज क्या अपनी अकड़ दिखाता है ?
विश्व विजय कर दूर-दूर तक अपनी जय गुंजाता है।
पल भर में सब नक्शा बदला पड़ी विकट यम की छाया,
बचा न कुछ भी आर चिता पर बनी भस्म जलकर काया।
बड़े-बड़े बल वीरों के अब निशां कहाँ जग में बाकी
मरघट में सब सुप्त पड़ी है उनकी वह बाँकी झाँकी !
पुष्प भार जो सह न सके थे आज अकूड़ों के नीचे
ज्वालामां म भुलस रहे है नैन-कमल अपने मीचे।

गीत

मन मूरख ! क्यों दीवाना है
जग सपना क्या गरबाना है ?
आज खिला जो फूल चमन में
कल उसको मुरझाना है !
आज खिली जो धूप ढा कल को
तम-अँधियारा छाना है ।
प्रात चढ़ा जो सूर्य गगन में
शाम हुए छिप जाना है !
अभी उठी जो लहरें जल में,
अभी उन्हें लय पाना है !

जम्बुक, घोर अमगल-ध्वनि से इधर-उधर हू हू करते,
घूक-राज वृक्षों पर बैठे कर्णकटुक चीखे भरते।

यही एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे घूम रहा मानव,
आओ देखें, अपना परिचित है अथवा कोई अभिनव ?

घुटनो तक हैं बाहु प्रलम्बित, दीर्घ वक्ष, उन्नत मस्तक,
गौर वर्ण, पर चिता-धूम्र की धूसरता है विक्षोभक।
अस्त व्यस्त से बढे हुए है केश-शीश औ' दाढी के,
सकल्पो से घिरा हुआ है-मरघट की रखवाली के।
एक मात्र लगोट लगाये, अनघड दण्ड लिये कर मे,
रूप विरूप बना है कैसा ? फंसा कहाँ किस चक्कर मे ?

पाठक ! यह है वही अयोध्या कोशल का अधिपति राजा,
बजता था जिसके महलो पर नित्य मधुर मगल बाजा।
आज बने चाँडाल किस तरह करते मरघट-रखवाली,
मात्र सत्य के कारण भूपति ने यह विपदा है पाली।
धन्य-धन्य वे नर जग में जो धर्म-हेतु सकट सहते,
स्वर्ग-तुल्य सुख-वैभव तज कर, सत्य धर्म की जय कहते।

हरिश्चन्द्र भावुक हैं फलत प्रबल भावना-स्रोत बहा,
मरघट के दृश्यो का भैरव घोष हृदय में गूँज रहा।
"मानव-जीवन भी क्या जीवन? क्षण भंगुर है, चचल है,
अमल कमलके दल पर जल-कण परिकपित हों पल-पल है!

स्वर्णासन पर बैठ मनुज क्या अपनी अकड़ दिखाता है ?
विश्व विजय कर दूर-दूर तक अपनी जय गुंजाता है ।
पल भर मे सब नक्शा बदला पड़ी विकट यम की छाया,
बचा न कुछ भी और चिता पर बनी भस्म जलकर काया ।
बड़े बड़े जग वीरो के शव मिला कहाँ जग मे बाकी
मरघट मे सब धूल पड़ी है उनकी वह बाँकी झाँकी ।
पुष्प भार जो सह न सके थे आज अंगारों के नीचे
ज्वालाओं मे झुलस रहे है नेत्र-कमल अपने मींचे ।

गीत

मन मूरख ! क्यों दीवाना है
जग सपना क्या मस्ताना है ?
आज खिला जो फूल चमन में
कल उसको मुरझाना है ।
आज किसी को धूप तो कल को
घन-अँधियारा छाना है ।
प्रात चढ़ा जो सूर्य गगन मे
शाम हुए छिप जाना है ।
अभी उठी जो लहरें जल में,
अभी उन्हें लय पाना है ।

रात पड़ी जो ओस चमन पर,
हिलते ही ढर जाना है।
यह जीवन कागज की पुड़िया,
बूँद लगे गल जाना है।
चन्द रोज की जिन्दगानी पर,
क्यों पागल मस्ताना है।
कितना ही तू क्या न अकड़ ले,
आखिर मरघट आना है।
कौन किसी का जग में, जिस पर,
यह सब झगड़ा ठाना है।
'अमर' सत्य पर तू बलि होजा,
नाम अमर अपनाना है।

मस्तक मे कुछ देर सिनेमा चला विरक्त विचारों का,
आते-आते ध्यान हुआ निज जीवन के व्यवहारों का।

"तारा। तेरी जैसी जग मे विरल नारियाँ होती हैं,
पति के कारण कष्ट उठा सुख वैभव से कर धोती हैं।

पति प्रेम की भी सीमा है, तुमने तो आश्चर्य किया,
एक अपरिचित ब्राह्मण-हाथों हा, अपने को बेच दिया।

जिन सुकुमार करो से गूँथी नही पुष्प की माला-सी,
हन्त। उन्ही से वर्तन मलती आज रक की बाला-सी।"

"रोहित प्यारे रोहित ! तुम हो कहाँ ? कष्ट क्या पाते हो ?
सूर्य वंश के तिलक आज क्या तुम भी दास कहाते हो ?
शत-शत दासी जिसको अपने हाथों पर पुलकित रखती
जरा-जरा-सी सर्दी-गर्मी की भी थी चिन्ता करती।
आज वही युवराज क्षुधा से पीड़ित ठोकर खाता है,
जरा-जरा सी भूलों पर नित सौ सौ गाली पाता है।
हम पति-पत्नी सत्य-धर्म के लिए बिके सकट पाया
भाग्य-वश से "हा तनय तू वृथा साथ में दुख पाया।"

'प्रभो! प्रभो! क्या मेरे मुख से निकला शब्द अमङ्गल का
रोहित रहे सर्वथा रक्षित जीवन-धन मुझ निर्धन का।"

धूप जरा थी स्तम्भ हुए, बस वाम नेत्र सहसा फड़का;
चण्ड ध्वनि-सी हुई हृदय में भय से वक्षस्थल धड़का।
'अरे अमङ्गल शकुन हुआ क्या? अभी और क्या होना है?
खड़ा हुआ हूँ अन्तिम हद पर, मरण शेष अब होना है।
भगवन्! मेरा सर्वनाश हो मृत्यु अभी बस हो जाए,
एक सत्य हो रहे सुरक्षित वह न कलंकित हो पाए!"

इतने में ही नारी का स्वर दिया सुनाई क्रन्दन-मय
हरिश्चन्द्र झट चौंके उनका हृदय हुआ बस रोदन-मय।
"अरे भयकर अर्धरात्रि है घन का घोर उपद्रव है,
मरघट में नारी क्यों रोती? रौद्र कर्म का ताण्डव है।

हरिश्चन्द्र रोदन की ध्वनि पर कदम बढाए जाते हैं,
क्रन्दन के अति करुण वचन सोत्कम्प श्रवण मे आते है।

"हा-हा पुत्र, वत्स, हा लालन। मुझे छोड कर कहाँ चला ?
मुझ दुखिया के एकमात्र धन तुझको किसने कहाँ छला ?
अरे हुआ क्या तेरा हंसना ? कहाँ गई मोहक वाणी ?
तनिक बोल, मै वहा रही हूँ कब से आँखो का पानी।
आज विवर्ण वदन क्यो तेरा ? तेज-हीन कंचन तन है,
शुष्क अधर सम्पुट हा कैसा ? नही बोलता उन्मन है।
सीचा जिसके कुसुम गात को रक्त विन्दु दे छाती पर,
निर्मम होकर चढा सकूँगी उसे चिता पर अब क्यो कर!"

गीत

तू कौन सी दुनियाँ मे मेरे लाल है, आजा।
रोते हुए नयनों को मेरे हंसना सिखा जा!—ध्रुव

दिल ढूँढ रहा है कि मेरा लाल कहाँ है ?
थोडी सी झलक देके इसे धीर बंधा जा।

दुनियाँ मे तू ही था इक मेरा सहारा,
अब कैसे मैं जीऊँ, मुझे यह तो बता जा।

ऐ चाँद! तेरे बिन मेरी दुनियाँ मे अँधेरा,
उजडी हुई दुनियाँ को मेरी फिर से बसा जा!

हरिश्चन्द्र तो अभी न समझे, किन्तु आप तो परिचित हैं;
कौशल की सम्राज्ञी तारा पुत्र-शोक से दुःखित है।

हरिश्चन्द्र सोचते हृदय में—"अरे कहाँ मैं आता हूँ;
पुत्र-शोक-सन्तप्त विकल अबला को हाय सताता हूँ!
भाग्य-दोष से मिला मुझे क्या कर्म घोर निर्दय निन्दित;
कफ़न माँगना होगा इसको करना होगा हा दुःखित!"

मन पीछे को भाग रहा है किन्तु देह आगे चलता;
स्वामी की आज्ञा के कारण कठिन कार्य करना पड़ता।

विद्युत का आलोक हुआ जब देखा निज सम्मुख आता—
रौद्र रूप प्रत्यक्ष काल-सा तारा का जिय घबराता।

क्षत्रिय बाला थी साहस कर बोली—"अरे कौन है तू?
मेरा काल चुराने आया समझ गई मस्तक है तू।
हटजा तू मेरी आँखों के आगे से मत साहस कर;
मेरे जीते जी प्रिय-सुत को ले न सकेगा रजनीचर!

हरिश्चन्द्र थे विस्मित— 'यह क्या धधक उठी सहसा ज्वाला!
अभी-अभी तो दैन्य-शोक का बहता था गद-गद नाला!"

"देवी! मैं यमराज नहीं हूँ और न कोई दानव हूँ
विपद्ग्रस्त हतभाग्य तुम्हारी तरह, एक लघु मानव हूँ।

वृथा शोक क्यो करती हो ? जग की यह रीति सनातन है,
मानव की यह अन्तिम परिणति, क्षण नश्वर नर का तन है।
क्या मानव, क्या देव सभी को एक दिवस यह आता है,
पलभर मे ही मृत्यु कही से कही, उडा ले जाता है।
हाँ, अवश्य ही दु ख भयकर, पुत्र-मृत्यु क्या वज्र-पतन !
मातृ हृदय की इस ज्वाला का जीवन भर होता न शमन !
किन्तु हाथ की बात नही कुछ, यह दुख सहना ही होगा,
धैर्य तथा सन्तोष अन्तत॰ दिल में भरना ही होगा !"

तारा इस सौजन्य-पूर्ण मृदु करुणा-वाणी को सुन कर–
समझी–"यह है कोई सज्जन, करुणा-ममता का सागर।"

"नमस्कार तुम कौन अपरिचित ? दर्शन देने आए हो,
स्वर से नही विभीषण, जैसा भीषण रूप बनाए हो।
क्या तुम सचमुच मुझसे ही हतभाग्य कर्म के मारे हो,
अथवा कोई छद्म-वेश धर देव दयालु पधारे हो !
सकरुण-कण्ठ, मधुर स्वर कैसा ? तुम वरदेव विनिश्छलहो,
मुझ दुखिया का दूर करो दुख, तुम शरणागत वत्सल हो !
अब क्या और परीक्षा लेते इस छल का परित्याग करो,
आये हो तो कृपा करो कुछ, मेरा जीवित पुत्र करो !"

तारा गद्‌गद स्वर से रोती और प्रार्थना करती है,
पाकर समवेदना हृदय की पीडा और उभरती है।

'भद्रे ! क्यों विश्वास न करती ? स्पष्ट सत्य मैं कहता हूँ
देव नहीं हत भाग्य मनुज मैं इस मरघट मे रहता हूँ।
रात्रि-दिवस का वास यहाँ है, मृतक-दाह करवाता हूँ,
मर्म कफन कर लेता हूँ निज जीवन-काल बिताता हूँ।
तुम भी सोचो मरे हुए भी भला कभी जीवित होते,
प्राणी यम के मुख मे जाकर कभी नहीं वापस होते।

देव अगर जीवितकर द तो फिरक्या माप बिलख मरते।
सुर हो नर हो या कोई हो विधि के लेख नहीं टरते।
प्रतिदिन मरघट में ऐसे ही दृश्य भयङ्कर आते हैं,
पुत्र पिता माता पति पत्नी रोते हैं कपपाते हैं।

क्रन्दन की ध्वनि सुनते-सुनते वज्र कठोर बन गया मैं,
मात्र शरीर खड़ा है, दिल से करुणा-शून्य बन गया मैं।
अच्छा देवी धरो धीर तुम व्यर्थ न हा-हा कार करो
अर्ध कफन दो मुझको भाग्रो शीघ्र मृतक संस्कार करो।

तारा सुन कर बात नृपति की दीन-भाव स रोती है,
सुन भीर सम्प्रति को भीषण दुःख मन में होती है।
कौशल की सम्राज्ञी पर क्या संकट की बदली छाई,
हा प्रिय सुत के लिये कफन का वस्त्र न भाज जुटा पाई।

मैं दुखियारी पुत्र सम कोई और न जग मे निर्माणमन,
फँसी हुई हूँ बड़ी विपद में निःसहाय अबला-जीवन।

लाज बडी आती है, फिर भी मौन रहे क्या होना है ?
कफन नही तो अर्ध कफन का, प्रश्न कहाँ हल होना है ?"

भूपति चौंक उठे यह सुनकर–"अरे कहा क्या कफन नही ?
ऐसा क्या दारिद्रय् ? जगत में ऐसा होता कभी कही ?
घर में क्या कोई न ? अकेली जो तुम मरघट मे आई,
क्या तुम विधवा नि सहाय हो ? जो ऐसी विपदा पाई।"

"क्षमा करें, ऐसा न बोलिये प्रभु-करुणा से सधवा हूँ,
कैसे तुमने समझ लिया, मैं विश्व-अमंगल विधवा हूँ ?"
"क्षमा कीजिये, देवी ! मुझको दु स्थिति ने भ्रम मे डाला,
पति होते यह दुरवस्था क्यो ! समझ न पाया मैं बाला ?
पति है तब भी क्या है ? निष्ठुर साथ न तेरे आया क्यो ?
दे न सका जो कफन पुत्र को वृथा जनक-पद पाया क्यो !
उस पति को धिक्कार अनेको, वह पति-नाम लजाता है,
इस प्रसङ्ग में भी पत्नी की जो न मदद कर पाता है।"

इतना सुनना था, तारा का हृदय खेद से खिन्न हुआ,
मानो वक्ष विषाक्त छुरी के द्वारा सहसा भिन्न हुआ।
कष्ट न पाया राज्य त्याग कर, ब्राह्मण की-दासी बन कर;
आज असह्य कष्ट था मन मे निज पति की निन्दा सुनकर।
"हा भगवन् ! मैं क्या सुनती हूँ निष्ठुर हैं पति प्राणेश्वर,
और विपद चाहे कितनी हो किन्तु न निन्दित हो प्रियवर !"

पति की निन्दा सुन न सकी गंभीर उष्ण स्वर में बोली
जैसे क्रुद्ध सिंहिनी गर्जे नमते ही तम में गाली ?

"सावधान! मरघट के रक्षक! क्यों अनुचित जिह्वा करते ?
बिना किसी जाने बूझे, क्यों असत्य निन्दा करते ?
तुम न जानते मेरे जीवन-प्राण सत्य के पालक हैं,
कर सर्वस्व निछावर जग में पुण्य-धर्म संचालक हैं।
सत्य धर्म की रक्षा के हित राज्य-त्याग संकट भोगा
कथनीय महनीय जगत में ऐसा और न जन होगा।
मुझको मेरे स्वामी ने किस संकट में पड़कर छोड़ा ?
पर के हाथ सौंपते मुझको कैसे अपना मन तोड़ा ?
आता है जब ह्रदय याद वह दुःख भयंकर होता है;
घटो ही जिस तड़प-तड़प कर सिसक सिसक कर रोता है।"

भूपति इतना सुनते ही बस चमक उठे उद्भ्रान्त हुए,
बिजली-सी दौड़ी सब तन में प्राण क्षुब्ध-उत्क्रान्त हुए।
है! है!! वह है कौन? सत्य के लिये राज्य जिसने त्यागा,
संकट में पड़ पर के हाथों तुमको भी जिसने त्यागा।
बोलो बोलो जल्दी बोलो, कौन तुम्हारे प्रिय पति हैं ?
सुत-पत्नी का परित्याग कर रहे सुदृढ़ प्रण के प्रति हैं।
क्या तुम ही हतभाग्य अयोध्या-पति की रानी तारा हो
क्या तुम ही ब्राह्मण के हाथों बिकी किंकरी तारा हो।

क्या यह मृतशिशु, उसी अभागे हरिश्चन्द्र की सन्तति है,
क्या सचमुच ही सूर्यवंश के गौरव की यह दुर्गति है ?
आज तुम्हारे एक वाक्य पर निर्भर-जीवन-गति मेरी;
बोलो, जल्दी बोलो, देवी ! डोल रही है मति मेरी !"

मरघट-रक्षक की इन अद्भुत बातो को सुनकर तारा,
खडी होगई मूक स्तब्ध-सी, बही आँसुओ की धारा !

प्रकृति नटी ने इतने मे ही चमत्कार निज दिखलाया,
विद्युत का आलोक प्रखर तर वसुधा-मण्डल पर छाया !

स्पष्ट रूप से, दोनो ने ही एक दूसरे को देखा,
भूपति सिहर उठे, तारा की देख क्षीण तन की रेखा !

तारा ! तारा !! मम प्राणो का प्यारा रोहित चला गया,
चला गया क्या, मेरा जीवन हाय, धूलि में मिला गया।"

पति-पत्नी दोनो ही सहसा रोहित-शव से चिपट गये,
एक बार तो हुए विमूर्छित हन्त मृत्यु के निकट गये।
जीवन-दाता सरस मेघ ने शीतल जल-कण बरसा कर,
पुन चेतनारूढ किये तो उठे अश्रु-जल बरसा कर।

तारा, पति के चरणो मे गिर सिसक-सिसक कर रोती है,
नाथ ! नाथ ! कहती है, फिर फिर विमूर्च्छित होती है।

"नाथ! शोक है, लज्जा है, किस मुख से अब बोले तारा;
उचित नहीं सर्वस्व लुटा कर हृदय हार खोले दारा।
रोहित-सा निधि मुझको सौंपा किन्तु न रक्षा कर पाई;
हँसता-खिलता लिया आपसे आज लाश लेकर आई!
भूखा था वन में फल लेने गया नहीं वह फिर लौटा
विषधर ने काटा हा मेरा भाग्य सर्वथा ही खोटा!
कैसा था दुर्भाग्य-पूर्ण दिन? कैसा दुःख-दृश्य आया?
नहीं पता किस भ्रष्ट जन्म का पाप उदय में हो आया?
हाय! आज से पुत्रवती मैं हुई निपूती-हत्यारी;
पुत्रवती माताएँ मुझसे घृणा करेंगी अति भारी!

हरिश्चन्द्र भी उधर पुत्र की दशा देखकर रोते हैं;
लेकर लाश गोद में आँसू बरसा उसे भिगोते हैं।
"हा प्रिय रोहित! आँख बन्द कर क्या सुपना-सा देख रहे,
बोलो बोलो पिता तुम्हारे प्यारे तुम्हें परेख रहे।
रूठ रहे हो क्या माता ने आज तुम्हें कस कर डाँटा
क्या सचमुच ही किसी भयंकर विषधर ने तुमको काटा?
आयुष की रेखा तो इतनी लम्बी कैसे मर सकते?
ऋषियों की वाणी को तुम-से लाल न मिथ्या कर सकते।
कैसा सुन्दर मुखड़ा? कैसी कमल-सदृश आँखें प्यारी;
भुज प्रलम्ब वक्षस्थल विस्तृत आनन-चन्द्र मनोहारी।

क्या आँखे, इस मधुर मूर्ति को फिर न देखने पाएँगी,
शोक विकल नित आँसू बरसा क्या अन्वी हो जाएंगी !
मरने की मेरी वारी है, तुम क्यो पुत्र वृथा जाते ?
आये ही थे यदि इस जग मे, कुछ तो खेल दिखा जाते !
जप, तप, दान, सत्य क्या मेरा यो ही निष्फल जाएगा,
क्या अधर्म के आगे मेरा दिव्य धर्म गिर जाएगा !
तारा ! बोलो, अब रोहित के बिना जगत में क्या जीना ?
हम भी उसी मृत्यु के मुख मे जाएँ, जिसने सुन छीना !"

भूपति उन्मादी-से सहसा खडे हो गये मरने को,
अन्त स्फुरणा ने झट रोका, सत्य धर्म दृढ़ रखने को !

"अरे, अरे ! क्या करता हूँ मैं? कुछ भी होश न हा मुझको;
यह क्या मैंने पाप विचारा ? क्या शैतान लगा मुझको !
मै हूँ दास, अत मेरा निज तन पर भी अधिकार नही,
कैसे मर सकता हूँ, जब तक हटे हाय ऋण-भार नही !
आत्म घात है पाप भयकर, धर्म शास्त्र बतलाते है,
आत्म-घात करने वाले नर, सद्गति कभी न पाते हैं।
हे भगवन् ! यह पाप मानसिक हुआ आज मुझसे भारी,
करना क्षमा, क्षमा के सागर ! दुख में मति जाती मारी।
अब तो मैं चाण्डाल-दास हूँ, कहाँ नृपति हरिचन्द रहा ?
तारा औ' रोहित से-मेरा अब कैसा सम्वन्ध रहा ?

मोह विवश होकर मैं पागल भूल रहा हूँ अपना पथ
पासा देता है स्वामी को कहाँ भटकता मन का रथ ?'

मोह-ग्रस्त हो गिरते थे नृप किन्तु शीघ्र ही स्वस्थ हुए,
सत्य सूर्य फिर चमक उगा घनघोर मोह-घन ध्वस्त हुए।

"तारा ! जो कुछ हुआ हुआ बस अब रोने से क्या फल है ?
मरके वापस लौट न सकना नियम प्रकृति का अविचल है।
अब तो दिल पर पत्थर रख लो धैर्य धरो अन्त्येष्टि करो
मरघट का कर अर्घ चुका दो अब न पुत्र पर दृष्टि करो।
देखो उषा पूर्व में झलकी सूर्य उदय होने वाला,
लज्जा शेष बची है वह भी कहीं विनष्ट न हो बाला !
अगर देख पहचान हमें ले कोई तो फिर क्या होगा ?
ब्राह्मण-दासी, श्वपच-दास यह रात्रि मिलन न भला होगा।

'नाथ ! भूल जाते हैं, मैंने कहा पूर्व ही कफन नहीं,
'दासी हूँ'—इतने से समझें, मर्म-व्यथा की हद न कहीं ?
हाय आपका पुत्र बुभुक्षित भोजन तक भी नहीं मिला,
आज मृत्यु, तन ढँकने को हा ! मृतक-वस्त्र भी नहीं मिला।

देवी ! यह कर्मों की लीला इस पर किसका वश चलता ?
जो कुछ लिखा कर्म में मिलता जरा नहीं अणुभर टलता।

जो वीता सो वोत गया, अ्रव वीते पर पछताना क्या ?
वोलो कफन नही देती तो सुत-शव नही जलाना क्या ?"

' प्राणेश्वर ! कुछ तो निज सुत का स्नेह हृदय में रखिएगा,
आप पिता हैं, कुछ तो गौरव अपने पद का रखिएगा ।
कैसा है अन्याय, पिता ही कफन पुत्र का माँग रहे,
कफन नही है, फिर भी अपना हठ न व्यर्थ का त्याग रहे ?
देख रहे हैं कहाँ कफन है ? दुखिया को अव रहने दो,
क्षमा माँगती हूँ, प्रिय सुत का दाह-कर्म अव होने दो ।"

तारा विवश रो रही, भूपति हरिश्चन्द्र भी रोते हैं,
दोनो ही मन पर हिम गिरि-सा भार शोक का ढोते हैं ।

हरिश्चन्द्र बलपूर्वक अपने आँसू रोक, पुन वोले,
कैसी विकट परिस्थति है फिर भी न धर्म-पथ से डोले ।

पाठक ! मेरे कलियुग-वासी सोच रहे हैं, यह क्या है ?
व्यर्थ कदाग्रह भूपति करते, इसमें भला हर्ज क्या है ?
हरिश्चन्द्र पर धर्मवीर है, कहो धर्म कैसे छोडे ?
न्याय-नीति का रक्षक है, फिर न्याय-नीति कैसे तोडे ?
धर्म वही है, जो सकट की घडियो में भी भग न हो,
सुख की मस्ती मे तो किसको कहो धर्म का रग न हो ?

गीत

मनुष्य क्या झपट की जो ठोकरें न सह सके,
मनुष्य क्या जो संकटों के बीच खुश न रह सके।
मनुष्य क्या तूफान से जो क्षुब्ध भीम-सिन्धु में
उठा के शीश वेग से न लहर बन के बह सके।
मनुष्य क्या जो चमचमाते खंजरों की छाँह में,
हाँ मुस्करा के गर्व के न सत्य बात कह सके।
मनुष्य क्या जो रोते रोते चल बसे जहान से,
दिखा प्रचण्ड आत्म-बल न भीष्म राह गह सके।
मनुष्य क्या जो वासना का पुष्पहार पा 'अमर'
हिमाद्रि-शृङ्ग से भी ऊँच अपने प्रण से बह सके।

वीर पुरुष की संकट में भी धर्म भावना बढ़ती है,
उल्टी करने पर भी अग्नि-ज्वाला ऊपर चढ़ती है।
मामूली लालच की खातिर धर्म नष्ट करने वाले,
देश जाति औ' धर्म सभी को धोखा नित देने वाले।
जरा देख लें हरिश्चन्द्र को कैसे सच पर खड़ा हुआ?
कौन देखता है? फिर भी किस भाँति धर्म पर अड़ा हुआ?

'तारा! मन को शान्त बना कर अटल अचल दृढ़ वीर रहो,
धैर्य धर्म की होती है बस आज परीक्षा वीर रहो!

पत्थर मैं हूँ नही, पुत्र का दर्द मुझे भी गुरुतर है,
किन्तु सत्य की रक्षा का भी, देवि ! यही शुभ अवमर है।
स्वामी की आज्ञा है, आधा कफन लिए विन दाह न हो,
कैसे आज्ञा भग करूँ मै, प्रिये ! सँभल, गुमराह न हो।
जिसके लिए राज्य तज, तुमको वेंच श्वपच का दास बना,
कैसे-कैसे भीपण सकट सहे, विपद का जाल तना !
उसी धर्म को, आज आघ गज कपडे पर न छुडाओ तुम,
प्राणो से भी प्यारी मेरी मर्यादा न तुडाओ तुम।
तारा ! तुम तो मुझ से वढ कर सदा धीरता रखती थी,
जव भी ढीला होता मैं तव, तुम्ही सत्य पर अडती थी।
आज मोह मे भूली कैसे अपनी अविचल दृढता को,
तारा ! सँभलो, करो शीघ्रतर दूर मोह की जडता को।"

भूपति के दृढ वचन श्रवण कर, तारा ने साहस धारा,
धन्य-सुधन्य दम्पती जग, मे धर्म नही अपना हारा।

"नाथ ! मोह में भूल गई थी, सत्य-धर्म के गौरव को,
धन्य, आपने नष्ट किया अज्ञान-भ्रान्ति के रौरव को !
और नही कुछ पास, देव ! यह फटी पुरानी साडी है,
मुझ गरीव-दुखिया की लज्जा यही ढाँपने वाली है !
अघ कफन-कर के वदले मे, आधी अर्पण है लीजे,
दाह-कर्म रोहित का अव तो न्यायसिद्ध है कर दीजे।"

तारा ज्योंही लगी फाड़ने साड़ी का अंचल कर से,
जय-जय ध्वनि के साथ गगन से त्योंही दिव्य पुष्प बरसे।
गंधोदक की वर्षा से वह मृतक-भूमि महकी अति ही,
शीतल मन्द, सुगन्ध पवन से बदली शीघ्र प्रकृति-गति ही।
देव-वाद्य दुन्दुभि की मधुर-ध्वनि से गूँजा दिङ्मण्डल,
स्वच्छ-नील नभ में देवों का ठाठ जुड़ा मंजुल-मंगल।
सत्य-धर्म के विजय गीत सानन्द देवियों ने गाए,
शोक-दृश्य परिणत हुए, चहुँ ओर हर्ष के घन छाए।

रोहित जाग उठा मूर्च्छा से किया मात-पितु को वन्दन,
वहीं हर्ष की निर्मल सभा बना शीघ्र मरघट नन्दन।

सत्य की विजय

सत्य धर्म का विश्व मे तेज प्रताप अखण्ड,
भौतिक वल को ध्वस्त कर, पाता विजय प्रचड ।

मात्र सत्य ही अखिल जगत में मानव जीवन का वल है,
विना सत्य के सवल-प्रवल भी तुच्छ सर्वथा निर्वल है ।
पशु-वल आखिर पशु वल ही है कितना ही वह भीषण हो,
सत्य-धर्म की टक्कर खाकर क्षण मे जर्जर, कण कण हो ।
सकट नही, परीक्षा है यह यदि साहस-पूर्व सहलें,
क्षण-भगुर ससृति में मानव अमर नाम अपना करलें ।

हरिश्चन्द्र के सत्य धर्म का चमत्कार देखा तुमने ?
अन्तिम विजय दम्भ पर पाई किस प्रकार देखा तुमने ?

संकट क्या-क्या सहन किए, पर रहा पूर्णत अविचल वह।
स्वर्ण, अग्नि की ज्वाला में से निकला बनकर निर्मल वह ।

सत्य सूर्य की प्रभा स्वर्ग मे पहुची, सुर-मण्डल धाया,
देव राज वासव ने भ्राकर चरण कमल मे शिर नाया।
रत्न-खचित स्वर्णिल-भ्रासन पर राजा रानी बिठलाए,
रोहित मुदित गोद मे नृप की शोभा भ्रति सुन्दर पाए।

दुन्दुभि-नाद श्रवण कर काशी-नगरी की वासी जनता,
मरघट मे भ्रा दौड़ी भ्राई बढी सत्य की पावनता।
काशी के भूपति भी भ्राए हरिश्चन्द्र की सुन महिमा,
कौन न लाती किसको जग मे बढी त्याग की है गरिमा!

कौशिक ऋषिवर, भ्राज प्रेम की मूर्ति बने सम्मुख भ्राए,
राजा रानी ने वन्दन कर सिंहासन पर बिठलाए।

राजन्! सत्य-धर्म की भ्रद्भुत महिमा तुमने दिखलाई,
भ्रग्नि-परीक्षा मे भी तुम पर जरा नही कालिख भ्राई।

कौन सत्य के लिए तुम्हारे जैसा संकट सह सकता?
सुत-वियोग-से वज्र-पात पर कौन धीर-दृढ रह सकता?
कैसा भ्रद्भुत त्याग? राजसी वैभव पल भर मे छोड़ा,
कैसा उज्ज्वल सत्य? प्रिया को कफन न सुत का भी छोड़ा!
विश्वामित्र भ्रज्ञेय-शक्ति पर भ्राज पराजित है तुमसे,
उच्च हुम निज कर्तव्यो पर भ्राज विलज्जित है तुमसे!
मैं मूरख क्रोधान्ध बना क्यो? क्या तुमसे विग्रह छेड़ा?
विग्रह क्या छेड़ा? मुनि-पद का डुबा दिया भ्रघ-हुनि बेड़ा!

तुम अपूर्व विजयी, इस रण मे पतन हुआ मेरा भारी,
कहाँ साधुता का वह जीवन ? बना घोर पापाचारी।
रोहिताश्व पर सर्प-दश की माया भी, मैंने डारी,
बडा खेद है, तुम दोनो को कष्ट दिया मैंने भारी।
तुमने दिखा दिया त्रिभुवन को, जिसका धर्म सहायक हो,
ध्वस्त न उसको कर सकता है, कोई भी जग-नायक हो !
आज तपोबल, सत्य-शक्ति के सम्मुख शीश झुकाता है,
क्षमा कीजिए, कौशिक अपनी करणी पर पछताता है!"

हरिश्चन्द्र ने हाथ जोडकर कहा—"प्रभो, यह क्या कहते ?
आप धर्म की मूर्ति ऋषीश्वर, भला कभी दुर्णय गहते ?
सत्य-धर्म की करी परीक्षा, बडी कृपा की है भगवन् !
मिला तुम्ही से मुझ सेवक को यह सब गौरव मनभावन !
स्वर्ण परीक्षक जबकि स्वर्ण को पावक मध्य तपाता है,
द्वेष नही रखता है प्रत्युत द्विगुण तेज चमकाता है।
मैं दुर्बल अति दीन व्यक्ति हूँ, मुझमें इतनी शक्ति कहाँ ?
सत्याग्रह का जो कुछ बल है सन्तो का ही दिया यहाँ।
सद्गुरु कुम्भकार से उपमित, ऊपर चोट लगाते हैं,
गुप्त रूप से फिर भी घट को अन्दर खूब बचाते हैं।
तर्जन का, सरक्षण का यह मान्य प्रयोग हितकर है,
इसमें ही तप होता मानव यहाँ सत्य-शिव-सुन्दर है।

क्षमा कीजिये उच्छृंखल हूँ वृथा आपको क्रुद्ध किया,
शान्त तपस्वी जीवन को इस झगड़े में आ क्षुब्ध किया"

देख लिया भारत का गौरव! कितनी मृदु सज्जनता है,
अपकारी के प्रति भी कितनी स्नेहमयी भावुकता है?

सज्जन तो होते हैं चन्दन महक न निज कम कर सकते
अंग-विभेदक क्रूर-कुठार का मुख सुगन्ध से भर सकते।

मूल स्रोत संकट का वह सुर नम्र भाव से अवनत हो
आकर भूपति के चरणों में झुका प्रेम से गद्गद हो!

'कौशलेन्द्र! यह दोष न ऋषि का दोष सभी कुछ है मेरा
स्वर्ग-लोक में आकर भी हा दुर्मति ने मुझ को घेरा!
देवराज ने करी आपके सत्य-धर्म की स्तुति भारी,
मैंने ठीक न समझा कैसा निकला अति पापाचारी?
सिद्धाश्रम की पुष्प वाटिका मैंने ही तुड़वाई थी
शान्त तपोधन ऋषि को मर्मी मैंने ही दिलवाई थी!
क्षमा कीजिए वीर-शिरोमणि! दया कीजिए दया-सदन!
लज्जित हूँ निज क्षुद्र वृत्ति पर, हुआ विजित तुमसे राजन!

भूपति ने सानन्द स्नेह से किया क्षमा निर्जर को भी
जय-जय ध्वनि से जन समूह ने गुंजा दिया अंबर को भी।

मरघट-स्वामी भङ्गी आया, उतरे नृप सिंहासन से,
भूल न होती कभी, नीति के पालन में नर-राजन से।

हाथ जोड़कर कहा श्वपच ने क्षमा कीजिए, प्रभु मुझ पर,
किया बुरा व्यवहार सर्वदा नारी ने, मैंने तुम पर।

भूपति बोले हँस कर—"स्वामी! यह क्या उल्टी कहते हैं,
स्नेही, मृदुल, दयानिधि स्वामी, कहाँ आप-से मिलते हैं?
यह प्रताप, सब एक तुम्हारी करुणा का ही मृदु फल है,
संकट में की रक्षा मुझको अपना, कितना दृढ़ बल है?
क्रुद्ध स्वामिनी, किन्तु कृपा है, उनकी तो मुझ पर भारी,
मरघट-रक्षक बना तभी तो हुआ सुयश का अधिकारी।"

वृद्ध विप्र नालायक सुत को लेकर कम्पित-सा आया,
तारा-द्वारा सत्कृत होकर विस्मय अति मन में पाया।

ब्राह्मण-सुत ने दीनभाव से रानी के चरणों में गिर—
माँगी क्षमा स्व अपराधों की, लज्जा से था अवनत सिर।

'मैं पापी-निर्लज्ज, मूढ़ हूँ कष्ट दिया तुमको अनुचित,
क्षमा कीजिए जान न पाया दुराचार से मन दूषित।"

शान्तभाव से तारा बोली—"क्षमा कीजिए आप मुझे,
ठीक समय पर आ न सकी मैं झंझट ने छोड़ा न मुझे।

आप बड़े हैं स्वामी हैं, क्या दोष आपका हो सकता ?
दासी का जीवन ही ऐसा आदत कैसे हो सकता ?
पिता आपके विपद-सहायक उपकारी करुणासागर
भूल न सकती सत्य-धर्म की रक्षा की निज धन देकर !
यही प्रार्थना आप आज से दुराचार का त्याग करें
पूज्य पिता का पथ अपनाएँ सदाचार-अनुराग करें !

ब्राह्मण-सुत ने करी प्रतिज्ञा दुराचार का त्याग किया
सदाचार सादर अपना कर जीवन का पथ पलट दिया !

सज्जनता इसको कहते हैं अपकृत पर भी द्वेष नहीं,
प्रेमामृत से भरा हृदय है दुर्विचार का लेश नहीं !

कौशिक ऋषि ने पुनः अन्त में कहा—"अयोध्या चलिएगा
राज्य भार वापस करता हूँ मुझे मुक्त अब करिएगा ।
मैं तो भूल गया सब जप-तप फँसा राज्य की उलझन में
आध्यात्मिक जीवन का होता पतन विभव सुख-वर्तन में !

देवराज ने भी कौशिक का किया समर्थन आग्रह से,
"क्षमा कीजिए अब तो ऋषिजी दुःखित पूर्व दुराग्रह से ।
देख रहे हैं सत्याग्रह ने किया हृदय का परिवर्तन
कौशिक से श्रीआत्म भिक्षु का बना शान्त इस क्षण जीवन !"

भूपति बोले—"राज्य दान मे दिया न वापस हो सकता,
हरिश्चन्द्र अपनी मर्यादा कभी नही यों खो सकता।
सत्य धर्म की रक्षा के हित क्या-क्या सकट मैने झेला?
आज राज्य अपना कर कैसे करूँ सत्य की अवहेला?"

कौशिक ने सस्नेह गिरा से कहा—"आपको क्या उलझन?
राज्य वस्तुत लिया न मैंने यह तो था खाली तर्जन।
सत्य धर्म से तुम्हे डिगाने भर को थी सारी माया,
अब सब झगडा खतम हो गया, सत्य नही डिगने पाया।"

राज्य लिया हो तुमने ऋषिवर! क्यों न किसी भी कारण से?
पर मैंने तो दान दिया है, निश्छल, शुद्ध-सत्य मन मे।
एक बार जब धर्म-वृत्ति से दान दिया, फिर क्या लेना?
शिशु क्रीडा यह नही कि पल मे देना फिर पल मे लेना!"

इन्द्र देव ने कहा कि—"राजन्! ठीक आपका कहना है,
किन्तु सत्य कहते हैं ऋषि भी अत उचित पथ गहना है।
क्या यह होगा ठीक ऋषीश्वर, राज्य-कार्य मे फँसे रहे,
शान्त हृदय से जरा विचारें भावुकता का मार्ग गहे।"

हरिश्चन्द्र ने कहा—"आप ही वतलाएँ, अब क्या करना?
समाधान मेरा न हुआ है, नही सत्य से है टरना।

भावुकता का प्रश्न नहीं है प्रश्न सत्य का बढ़ना है,
आँख बंद कर कुछ कर लेना भावुकता कब ? जड़ता है।

विश्वामित्र सँभल कर बोले— एक बात है और सुनें,
मुझको आशा है अवश्य ही अब तो मध्यम मार्ग चुनें।
मैं अपने कर से रोहित को राज-मुकुट पहनाता हूँ,
एक छत्र कौशल जन-पद का राजा आज बनाता हूँ।
रोहित बालक अस्तु न अब तक कर सकता है राज्य-वहन,
तब तक आप बनें अभिभावक इतना तो मानिए कहन।"

इतना सुनना था जनता की गर्ज उठी कल कल धारा,
ठीक ठीक है—कहकर सबने किया जोर से जय-नारा।

हरिश्चन्द्र ने भी जनता का यह आग्रह स्वीकार किया
पुष्प-वृष्टि कर देवों ने तब दुन्दुभि से जयकार किया।

हरिश्चन्द्र ने भी जनता का यह आग्रह स्वीकार किया
पुष्प-वृष्टि कर देवों ने तब दुन्दुभि से जयकार किया।

हरिश्चन्द्र ने कहा— 'अयोध्या मैं तब तक कब आ सकता ?
ब्राह्मण और श्वपच का सब ऋण जब तक नहीं चुका सकता।"

विप्र और भंगी ने सादर कहा— 'हमारा क्या बन्धन ?
हमको कुछ भी नहीं चाहिये कृपा चाहिये बस राजन्।
अर्चन करते भी सुरपति ने समाधिक वैभव दीना
हरिश्चन्द्र-तारा रानी को मुक्त दासता से कीना।

धन्य-धन्य है भारत माता! धन्य तुम्हारा गौरव है,
हरिश्चन्द्र से लाल दिये, जिनका यश, अक्षय वैभव है।
सत्य-धर्म पर अपना सब कुछ, सुख वैभव-उत्सर्ग किया,
प्राण-प्रकम्पक कष्ट सहे, पर कभी नही उन्मार्ग लिया।

हार मानकर कौशिक ने जब राज्य पुन देना चाहा,
दत्त दान अग्राह्य मान कर, नही स्वय लेना चाहा!
चाहा क्या, बस लिया न बिल्कुल सत्ये धर्म पर अचल रहे,
स्फटिक रत्न के तुल्य सर्वदा अपने व्रत में अमल रहे!

उपसंहार

भोग-वासना त्याग कर जो बनता निष्काम
अजर, अमर आनन्दमय पाता वह शिव-धाम।

अखिल विश्व में सबसे ऊँचा
जीवन मानव-जीवन है
मानवता ही सबसे बढ़ कर
अजर-अमर अक्षय धन है।

स्वर्ग लोक के देव मनुज-भव
पाने की इच्छा करते
मानवता-द्वारा ही ऋषि मुनि
दुस्तर भव-सागर तरते।

मानव-तन पाकर भी जो नर,
जीवन उच्च बना न सका

दुराचार, अन्याय आदि का
नाम-लोप ही कर डाला;
सदाचार, सद्धर्म न्याय को
करी समर्पण जय-माला।

रोहित शिक्षित-दीक्षित होकर
राज्य वहन के योग्य हुए;
हरिश्चन्द्र भी राज्य सौंपकर
मुनि-जीवन के योग्य हुए।

हरिश्चन्द्र-तारा ने दीक्षा—
धारण की जप-तप कीना
अपना कर कैवल्य ज्ञान फिर
पूर्ण शुद्ध शिव पद लीना।

धन्य-धन्य नृप हरिश्चन्द्र हैं
धन्य-धन्य तारा रानी;
सत्य-धर्म की रक्षा के हित
झेली क्या-क्या हैरानी!

अजर अमर यश जग में अब तक
ग्राम-नगर गीत गाते हैं;
जीवन-वृत्त श्रवण कर पुलकित
श्रोता नहीं अघाते हैं।

सर्वोत्तम था यह जीवन भी
सर्वोत्तम यह जीवन है,
जन्म मृत्यु का स्पर्श नहीं अब
चरणों में नित वन्दन है।

पाठक वृन्द! विश्व में केवल
शुद्ध सत्य की पूजा है,
मानव की महिमा का सच सुन
कारण और न दूजा है।

अगर हृदय से पाप-कर्म का
कुत्सित कलि-मल धोना है,
श्रेष्ठ सत्य अपनाएँ, बेड़ा
पार इसी मे होना है।

हरिश्चन्द्र का श्रेष्ठ सत्य-पथ
स्पष्ट आपके सम्मुख है,
वीर-धीर बन चलें निरन्तर
बाधाओं का क्या दुख है?

बाधाओं पर विजय प्राप्त कर
जो निज सत्य निभाता है,
नर से नारायण की पदवी
वही जगत मे पाता है।

सार यही है धर्म-कथा का
तदनुसार जीवन करलें;
पूर्ण नहीं तो कुछ तो मन मे
धार्मिकता का रस भरलें।

भूमण्डल पर हरिश्चन्द्र के—
सुयश नित्य गाए जाए
सदाकाल सर्वत्र सत्य की
विजय पताका फहराएँ!

गीत

तू मानवता अपना ले रे,
यह जीवन मधुर बनाले!—ध्रुव

यह धन कंचन सुखकाया
सब सपने की है माया
क्या इस पर भी समझाया
तू त्याग की राह बना ले रे!

मन झूठा वाणी झूठी
सब स्वार्थ-कहानी झूठी

चल छोड मोह की मूठी
तू सत्य का साज सजा लेरे।

यह क्लेश द्वेष का झगडा,
क्या मार्ग कलंकित पकडा,
कर दूर पाप का पचडा,
तू गीत प्रेम के गा लेरे।

कर दीन दुखी की सेवा,
सेवा मे मिलती मेवा,
हो पार भँवर से खेवा,
तू जग मे नाम कमा लेरे।

जीवन मे बदबू छाई
फैली सब ओर बुराई,
करले कुछ नेक कमाई,
तू अपना मन महका लेरे।

निज-धर्म की रक्षा करना,
जग-सङ्कट से क्या डरना,
तप-तप कर खूब निखरना,
तू "अमर" सत्य-गुण गा लेरे।

प्रशस्ति

स्थानक-वासी जैन-संघ मे
'पूज्य मनोहर" बड़ भागी,
धीर, वीर, गम्भीर, संयमी
हुए प्रतिष्ठित जग-स्वामी।

कष्ट सहन कर किये अनेकों
ग्राम नगर-जन प्रतिबोधित,
'गच्छ मनोहर' चला आपसे
संयम-पथ मे प्रतिशोभित।

शास्त्राभ्यासी उग्र तपस्वी
पूज्य-श्री मुनि मोतीराम,
'गच्छाचार्य' विश्रुत जिनका
गौरव है अब भी अभिराम।

अन्तेवासी श्रेष्ठ आपके
'पृथ्वीचन्द्र' जी मुनिवर है,
जैनाचार्य पदालंकृत हैं,
गच्छ मनोहर-दिनकर है।

चरण-रेणु है शिष्य 'अमर' मुनि
हरिश्चन्द्र यश गाया है,
सत्य-धर्म की महिमा का यह
उज्ज्वल चित्र बनाया है।

श्रद्धास्पद गणिवर्य, 'श्याम' मुनि
भद्र स्वभावी गुण धारी,
'प्रेमचन्द्र' जी शिष्य आपके
प्रेममूर्ति विमलाचारी।

हरिश्चन्द्र-गाथा के प्रति था,
उनका कुछ आग्रह गुरुतर;
कहूँ, आपके आग्रह का ही
यह मधु-फल है श्रेयस्कर।

पटियाला (पंजाब) राज्य है,
पुर महेन्द्रगढ सुखकारी;

राजा श्री ज्वालाप्रसाद जी
जिन मत की शोभा भारी!

तत्सुत राजा माणकचन्द जी
महावीर की प्रिय श्रावक।
धर्म प्राण माता श्री 'प्रचला'
धर्म भाव सद्गुण धारक।

कई मास का द्रव्य दान कर
दृढ़ जैनत्व दिपाया है।
जिन शासन की सेवा का शुभ
प्रेम-भाव बरसाया है।

चातुर्मास शान्ति-सुख-दायक
मधुर भाव उन्मेष लिए।
बना स्मरण-आभार यहाँ का
यह लघु काव्य प्रवेश लिए।

विक्रमार्क दो सहस्र एक का
श्रावण मास सरस-सुन्दर।
हरिश्चन्द्र की जीवन-गाथा
पूर्ण हुई जय मगल कर।